सामंतवाद : विभिन्न पहलू, उत्पत्ति, विकास एवं पतन के कारण

1. प्रस्तावना

सामंतवाद मध्यकालीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में भूमि उत्पादन, राजनीतिक शक्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा प्रशासनिक अधिकारों का प्रमुख आधार थी। भूमि पर अधिकार रखने वाले शासक, सामंत, जागीरदार, बड़े भू-स्वामी और स्थानीय प्रभु समाज में प्रभावशाली स्थान रखते थे। दूसरी ओर, कृषि उत्पादन करने वाले किसान, कृषिदास और श्रमिक प्रायः इन भू-स्वामियों पर आर्थिक तथा सामाजिक रूप से निर्भर रहते थे। इस प्रकार सामंतवाद केवल भूमि के स्वामित्व की व्यवस्था नहीं था, बल्कि यह राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण, सामाजिक असमानता, कृषि आधारित अर्थव्यवस्था और व्यक्तिगत निष्ठा पर आधारित संबंधों का एक व्यापक तंत्र था।

इतिहास में सामंतवाद की अवधारणा का प्रयोग मुख्यतः मध्यकालीन यूरोप की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिए किया जाता है। यूरोप में रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् राजनीतिक अस्थिरता, स्थानीय सुरक्षा की आवश्यकता, कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था और भूमि के बदले सैन्य सेवा देने की परंपरा ने सामंती संबंधों को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लगभग नौवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के बीच यूरोप के अनेक क्षेत्रों में सामंती संस्थाएँ प्रभावशाली रहीं, यद्यपि उनका स्वरूप सभी क्षेत्रों में समान नहीं था।

भारत में भी प्राचीन काल के उत्तरार्द्ध और मध्यकाल में भूमि-अनुदान, सामंतों, अधीनस्थ शासकों, स्थानीय भू-स्वामियों तथा कृषकों के बीच अनेक प्रकार के संबंध विकसित हुए। विशेष रूप से गुप्तोत्तर काल से प्रारंभिक मध्यकाल तक भूमि-अनुदानों और स्थानीय सत्ता के विकास ने भारतीय राजनीतिक तथा आर्थिक संरचना को प्रभावित किया। हालांकि भारतीय सामंतवाद और यूरोपीय सामंतवाद की संस्थाएँ, अधिकार-संबंध और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ अलग-अलग थीं। इसलिए दोनों को एक ही व्यवस्था का हूबहू रूप मानना उचित नहीं है।

सामंतवाद का अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे मध्यकालीन समाज में सत्ता के वितरण, भूमि संबंधों, कृषि उत्पादन, श्रम व्यवस्था, सामाजिक वर्गीकरण, धर्म, सैन्य संगठन और आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त सामंतवाद के पतन का अध्ययन आधुनिक राज्य, केंद्रीकृत राजसत्ता, नगरों के विकास, व्यापार-वाणिज्य के विस्तार और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करता है।

2. सामंतवाद का अर्थ एवं परिभाषा

सामंतवाद शब्द का संबंध सामान्यतः ऐसे सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे से है, जिसमें भूमि पर अधिकार के आधार पर शक्ति, प्रतिष्ठा और आर्थिक संसाधनों का वितरण होता है। यूरोपीय संदर्भ में अंग्रेजी शब्द *Feudalism* का संबंध मध्यकालीन यूरोप में विकसित जागीर, सामंती निष्ठा, सैन्य सेवा तथा प्रभु-अधीनस्थ संबंधों से है। इस व्यवस्था में राजा या उच्च प्रभु किसी अधीनस्थ को भूमि अथवा उससे प्राप्त

होने वाले राजस्व के अधिकार प्रदान कर सकता था। बदले में अधीनस्थ से सैन्य सहायता, राजनीतिक निष्ठा अथवा अन्य सेवाओं की अपेक्षा की जाती थी।

सामंतवाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि राजनीतिक अधिकार केवल राजा के हाथों में केंद्रित नहीं रहते थे। स्थानीय सामंत अपने क्षेत्रों में न्याय, कर-संग्रह, सैन्य संगठन और प्रशासन से संबंधित अनेक अधिकारों का प्रयोग कर सकते थे। इस कारण राज्य की सत्ता अनेक स्तरों में विभाजित हो जाती थी।

आर्थिक दृष्टि से सामंतवाद का संबंध कृषि उत्पादन और भूमि से प्राप्त अधिशेष पर नियंत्रण से था। किसान भूमि पर खेती करते थे और उत्पादन का एक भाग लगान, कर, बेगार अथवा अन्य सेवाओं के रूप में भू-स्वामी या प्रभु को देते थे। यूरोप के अनेक क्षेत्रों में कृषिदासों की स्थिति ऐसी थी कि वे भूमि से बँधे रहते थे और स्वतंत्र रूप से स्थान परिवर्तन करने में सक्षम नहीं थे। हालांकि सभी किसान कृषिदास नहीं थे और उनकी स्थिति क्षेत्र, काल तथा स्थानीय कानूनों के अनुसार अलग-अलग थी।

सामंतवाद को केवल राजनीतिक व्यवस्था मानना पर्याप्त नहीं है। यह एक ऐसी ऐतिहासिक संरचना थी, जिसमें भूमि पर अधिकार, श्रम पर नियंत्रण, सैन्य सेवा, सामाजिक प्रतिष्ठा और स्थानीय प्रशासन एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। इन सभी संबंधों की प्रकृति समय के साथ बदलती रही।

3. सामंतवाद की प्रमुख विशेषताएँ

3.1 भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था

सामंतवादी व्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता भूमि का आर्थिक महत्त्व था। मध्यकालीन समाज की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास करती थी और कृषि आजीविका का मुख्य साधन थी। कृषि से प्राप्त उत्पादन ही समाज की आर्थिक संरचना का आधार बनता था। भूमि से मिलने वाला अनाज, पशुधन, वन-संसाधन और अन्य उत्पाद सामंतों की आय तथा राजनीतिक शक्ति के प्रमुख स्रोत थे।

भूमि का स्वामित्व अथवा उस पर नियंत्रण रखने वाला वर्ग आर्थिक रूप से प्रभावशाली होता था। सामंत भूमि से प्राप्त लगान और अन्य देयताओं के माध्यम से अपने सैन्य दल, प्रशासनिक कर्मचारियों तथा दरबार का खर्च वहन करते थे। दूसरी ओर, किसान अपनी आजीविका के लिए भूमि पर निर्भर रहते थे। इस प्रकार भूमि ने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच अधिकार और निर्भरता के संबंध निर्मित किए।

3.2 राजनीतिक सत्ता का विकेंद्रीकरण

सामंतवाद में राजनीतिक शक्ति अनेक स्तरों पर विभाजित रहती थी। राजा सर्वोच्च शासक हो सकता था, लेकिन अनेक क्षेत्रों में स्थानीय सामंतों का प्रभाव इतना अधिक होता था कि वे अपने अधीन क्षेत्रों में स्वतंत्र शासकों की तरह कार्य करते थे। वे सैनिकों की व्यवस्था करते, स्थानीय विवादों का निपटारा करते और अपने अधिकार क्षेत्र में कर या लगान वसूलते थे।

राजा की शक्ति प्रायः सामंतों के सहयोग पर निर्भर रहती थी। युद्ध के समय सामंत अपने सैनिकों को राजा की सहायता के लिए भेजते थे। इसके बदले वे भूमि, अधिकार, उपाधियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त कर सकते

थे। जब सामंत शक्तिशाली हो जाते थे, तो वे केंद्रीय सत्ता की अवहेलना भी करने लगते थे। इससे राजनीतिक विखंडन को बढ़ावा मिलता था।

3.3 प्रभु और अधीनस्थ के संबंध

यूरोपीय सामंतवाद में प्रभु और अधीनस्थ के संबंधों को विशेष महत्त्व प्राप्त था। भूमि या उससे संबंधित अधिकार प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने प्रभु के प्रति निष्ठा और सेवा का दायित्व स्वीकार करता था। इस संबंध में पारस्परिक दायित्वों का विचार निहित था, हालांकि व्यवहार में दोनों पक्षों की शक्ति समान नहीं होती थी।

प्रभु अपने अधीनस्थ को संरक्षण, भूमि अथवा आय का स्रोत प्रदान कर सकता था। बदले में अधीनस्थ सैन्य सेवा, सलाह, आर्थिक सहायता और राजनीतिक समर्थन देता था। ऐसे संबंधों ने मध्यकालीन यूरोप में सैन्य तथा प्रशासनिक संगठन को प्रभावित किया।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक भूमि-धारण संबंध एक समान नहीं था। भूमि पर अधिकार, उत्तराधिकार, सेवा की शर्तें और न्यायिक अधिकार विभिन्न क्षेत्रों तथा कालखंडों में अलग-अलग हो सकते थे।

3.4 कृषक वर्ग की अधीनस्थ स्थिति

सामंतवादी समाज में कृषक वर्ग उत्पादन का प्रमुख आधार था। किसान खेतों में श्रम करते थे, फसल उगाते थे और अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे। इसके साथ ही उन्हें भू-स्वामी या प्रभु को लगान अथवा अन्य देयताएँ देनी पड़ती थीं।

यूरोप के कई भागों में कृषिदासों को भूमि से जुड़े दायित्वों का पालन करना पड़ता था। वे अपने श्रम का एक भाग सामंत की भूमि पर लगाते थे और कुछ परिस्थितियों में विवाह, स्थान परिवर्तन या अन्य गतिविधियों के लिए प्रभु की अनुमति के अधीन होते थे। हालांकि सभी क्षेत्रों में कृषिदासता की प्रकृति समान नहीं थी और स्वतंत्र किसानों की भी पर्याप्त उपस्थिति थी।

कृषकों पर विभिन्न प्रकार के आर्थिक दायित्व होने से उनकी आय सीमित रहती थी। खराब फसल, युद्ध, अकाल और अत्यधिक लगान जैसी परिस्थितियाँ उनके जीवन को और कठिन बना देती थीं। यही परिस्थितियाँ कई क्षेत्रों में कृषक असंतोष और विद्रोह का कारण बनीं।

3.5 सामाजिक असमानता और वर्ग विभाजन

सामंतवादी समाज में जन्म, भूमि, सैन्य शक्ति, धार्मिक प्रतिष्ठा और आर्थिक संसाधनों के आधार पर सामाजिक स्थिति निर्धारित होती थी। यूरोप के अनेक क्षेत्रों में सामंत, पादरी और कृषक प्रमुख सामाजिक समूहों के रूप में देखे जाते हैं, हालांकि वास्तविक सामाजिक संरचना इससे अधिक जटिल थी।

सामंत वर्ग के पास भूमि, राजनीतिक अधिकार और सैन्य संसाधन होते थे। चर्च के उच्च पदाधिकारी धार्मिक प्रभाव के साथ-साथ बड़ी संपत्तियों पर भी नियंत्रण रख सकते थे। कृषक वर्ग उत्पादन करता था, लेकिन उसे राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकार सीमित रूप में प्राप्त होते थे।

इस सामाजिक संरचना में असमानता केवल आय तक सीमित नहीं थी। न्याय, शिक्षा, सैन्य सेवा, प्रशासन और धार्मिक संस्थाओं तक पहुँच में भी वर्गों के बीच अंतर पाया जाता था। फिर भी सामंती समाज पूर्णतः स्थिर नहीं था। नगरों के विकास, व्यापार और राजकीय सेवा के विस्तार से कुछ लोगों को सामाजिक उन्नति के अवसर भी मिले।

3.6 सैन्य सेवा का महत्त्व

सामंतवाद के विकास में सैन्य सेवा की प्रमुख भूमिका थी। मध्यकालीन यूरोप में स्थायी राष्ट्रीय सेनाओं का विकास सीमित था। इसलिए राजा और बड़े प्रभु युद्ध के समय अपने अधीनस्थ सामंतों से सैनिक सहायता प्राप्त करते थे।

भूमि या आय के अधिकार के बदले सैन्य सेवा देना सामंती संबंधों का एक प्रमुख आधार बन सकता था। सामंत अपने संसाधनों के अनुसार घुड़सवार सैनिक, हथियार और अन्य सैन्य सहायता उपलब्ध कराते थे। इससे सैन्य शक्ति का संगठन स्थानीय भू-स्वामियों के हाथों में भी रहता था।

हालाँकि समय के साथ सैन्य तकनीक, पैदल सेना, धनुर्धारियों, भाड़े के सैनिकों और बारूद आधारित हथियारों के विकास ने इस व्यवस्था को बदलना शुरू किया। इससे राजा के लिए सामंतों पर निर्भर हुए बिना सेना संगठित करने की संभावनाएँ बढ़ीं।

3.7 स्थानीय न्याय और प्रशासन

सामंतों को अनेक क्षेत्रों में स्थानीय प्रशासन और न्याय से जुड़े अधिकार प्राप्त थे। वे भूमि विवादों, लगान, श्रम संबंधों और स्थानीय अपराधों से जुड़े मामलों का निपटारा कर सकते थे। कुछ स्थानों पर न्यायिक अधिकार भी भूमि अथवा राजनीतिक पद के साथ जुड़े होते थे।

इस व्यवस्था में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कानून और प्रथाओं का प्रभाव रहता था। केंद्रीय राजसत्ता की सीमित पहुँच के कारण सामंत स्थानीय समाज के लिए प्रशासनिक प्राधिकार बन जाते थे। परंतु इससे न्याय की समानता प्रभावित हो सकती थी, क्योंकि शक्तिशाली सामंत अपने हितों के अनुसार निर्णय लेने की स्थिति में होते थे।

3.8 धार्मिक संस्थाओं की भूमिका

मध्यकालीन यूरोप में चर्च एक प्रभावशाली धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक संस्था थी। चर्च के पास भूमि, आय के स्रोत, शिक्षा संस्थान और व्यापक सामाजिक प्रभाव था। धार्मिक मान्यताओं के माध्यम से सामाजिक पदानुक्रम और शासकीय अधिकारों को वैधता प्रदान करने के प्रयास भी किए जाते थे।

मठों और चर्चों की कृषि, शिक्षा, पांडुलिपि संरक्षण तथा दान संबंधी गतिविधियों का भी महत्व था। दूसरी ओर, धार्मिक संस्थाओं की विशाल संपत्ति और राजनीतिक हस्तक्षेप को लेकर राजाओं तथा अन्य शक्तियों के साथ संघर्ष भी हुए। इस प्रकार चर्च सामंती व्यवस्था को समर्थन देने के साथ-साथ कभी-कभी उसकी राजनीतिक संरचना में प्रतिस्पर्धी शक्ति के रूप में भी सामने आया।

भारत में मंदिरों, मठों और अन्य धार्मिक संस्थाओं को भूमि-अनुदान मिलने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इन संस्थाओं ने धार्मिक गतिविधियों के अतिरिक्त शिक्षा, स्थानीय अर्थव्यवस्था, सांस्कृतिक संरक्षण और सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया। हालांकि भारतीय धार्मिक संस्थाओं की भूमिका को यूरोपीय चर्च की भूमिका के समान नहीं माना जा सकता।

4. सामंतवाद की उत्पत्ति के कारण

सामंतवाद किसी एक घटना या एक शासक की नीति से अचानक उत्पन्न नहीं हुआ। इसका विकास अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सैन्य परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ। यूरोप तथा भारत में इसके विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ अलग थीं। इसलिए सामंतवाद की उत्पत्ति के कारणों को समझने के लिए संबंधित क्षेत्रों की परिस्थितियों का अलग-अलग अध्ययन आवश्यक है।

4.1 राजनीतिक अस्थिरता और केंद्रीय सत्ता का कमजोर होना

सामंतवाद के विकास का एक प्रमुख कारण केंद्रीय सत्ता की कमजोरी था। जब कोई विशाल राज्य अपने दूरस्थ क्षेत्रों पर प्रभावी नियंत्रण बनाए रखने में असमर्थ होता है, तो स्थानीय शासक, सैन्य अधिकारी और भू-स्वामी अधिक शक्तिशाली हो सकते हैं। वे सुरक्षा, न्याय, कर-संग्रह और प्रशासन की जिम्मेदारियाँ अपने हाथों में लेने लगते हैं।

पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के बाद पश्चिमी यूरोप में राजनीतिक सत्ता अनेक राज्यों और स्थानीय शक्तियों में विभाजित हो गई। लगातार होने वाले युद्धों तथा राजनीतिक अस्थिरता ने लोगों को स्थानीय शक्तिशाली व्यक्तियों के संरक्षण पर निर्भर होने के लिए प्रेरित किया। इस परिस्थिति ने सामंती संबंधों के विकास के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया।

4.2 विदेशी आक्रमण और सुरक्षा की आवश्यकता

मध्यकालीन यूरोप में विभिन्न क्षेत्रों पर होने वाले आक्रमणों ने सुरक्षा की समस्या को गंभीर बनाया। वाइकिंग, मग्यार और अन्य आक्रमणकारी समूहों के हमलों से अनेक बस्तियों, कृषि क्षेत्रों और व्यापारिक मार्गों को खतरा उत्पन्न हुआ। ऐसी परिस्थितियों में स्थानीय दुर्गों, सशस्त्र समूहों और क्षेत्रीय प्रभुओं का महत्व बढ़ा।

किसानों तथा छोटे भू-स्वामियों को सुरक्षा के लिए शक्तिशाली प्रभुओं का सहारा लेना पड़ता था। इसके बदले उन्हें भूमि, श्रम या उपज का कुछ भाग देना पड़ सकता था। सुरक्षा और आर्थिक निर्भरता के इस संबंध ने सामंती संरचना को मजबूत करने में योगदान दिया।

4.3 कृषि आधारित अर्थव्यवस्था

सामंतवाद की उत्पत्ति में कृषि अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान था। जब समाज की अधिकांश संपत्ति भूमि और कृषि उत्पादन पर आधारित हो, तो भूमि पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग की शक्ति स्वाभाविक रूप से बढ़ती है।

मध्यकालीन यूरोप में अनेक क्षेत्रों में नगरों और दूरगामी व्यापार का महत्त्व सीमित था। स्थानीय कृषि उत्पादन पर आधारित अर्थव्यवस्था ने बड़े भू-स्वामियों को आर्थिक शक्ति प्रदान की। वे कृषि अधिशेष के माध्यम से सैनिकों और आश्रितों का पालन-पोषण कर सकते थे।

कृषि अधिशेष पर नियंत्रण ने सामंतों को राजनीतिक शक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्रदान की। इस प्रकार आर्थिक शक्ति और राजनीतिक अधिकार एक-दूसरे को मजबूत करते गए।

4.4 भूमि के बदले सेवा देने की परंपरा

सामंतवाद के विकास में भूमि या भूमि से प्राप्त आय के बदले सेवा देने की परंपरा का विशेष महत्त्व था। शासक अपने सहयोगियों, सैनिक अधिकारियों और अधीनस्थों को भूमि या राजस्व संबंधी अधिकार प्रदान कर सकते थे। बदले में उनसे सैन्य सेवा, प्रशासनिक सहयोग और राजनीतिक निष्ठा की अपेक्षा की जाती थी।

यूरोप में इस प्रकार के संबंधों का विकास विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ। कैरोलिंजियन शासन के दौरान सैन्य सेवा और भूमि से प्राप्त संसाधनों के बीच संबंधों ने महत्त्व प्राप्त किया। बाद के समय में अनेक क्षेत्रों में ये संबंध वंशानुगत अधिकारों तथा स्थानीय विशेषाधिकारों से जुड़ गए।

यह प्रक्रिया सभी क्षेत्रों में एक समान नहीं थी। भूमि पर अधिकार, सैन्य दायित्व और उत्तराधिकार के नियमों में पर्याप्त विविधता थी।

4.5 मुद्रा अर्थव्यवस्था का सीमित विकास

प्रारंभिक मध्यकालीन यूरोप के अनेक क्षेत्रों में मुद्रा आधारित लेन-देन और दूरगामी व्यापार का महत्त्व पहले की तुलना में सीमित हो गया था। ऐसी परिस्थितियों में भूमि, कृषि उपज और श्रम का महत्त्व बढ़ गया। सैनिकों तथा अधिकारियों को नकद वेतन देने के बजाय भूमि अथवा उससे प्राप्त आय के अधिकार देना व्यावहारिक विकल्प बन सकता था।

हालाँकि यह कहना उचित नहीं होगा कि पूरे यूरोप में मुद्रा का प्रयोग समाप्त हो गया था। विभिन्न क्षेत्रों में सिक्कों, बाजारों और व्यापार का अस्तित्व बना रहा। सामंतवाद का विकास केवल मुद्रा की कमी से नहीं, बल्कि भूमि आधारित संपत्ति, सैन्य सेवा और राजनीतिक विकेंद्रीकरण के संयुक्त प्रभाव से हुआ।

4.6 रोमन संस्थाओं और जर्मनिक परंपराओं का प्रभाव

यूरोपीय सामंतवाद के विकास में रोमन साम्राज्य की कुछ संस्थाओं और जर्मनिक समाजों की व्यक्तिगत निष्ठा तथा सैन्य सहयोग से जुड़ी परंपराओं का प्रभाव माना जाता है। रोमन समाज में बड़े भू-स्वामियों और कृषकों के बीच निर्भरता के संबंध पहले से मौजूद थे। दूसरी ओर, जर्मनिक राजनीतिक परंपराओं में शासक और योद्धाओं के बीच निष्ठा तथा सेवा के संबंध महत्त्वपूर्ण थे।

पश्चिमी रोमन साम्राज्य के विघटन के बाद इन विभिन्न परंपराओं का परस्पर संपर्क हुआ। बदलती राजनीतिक परिस्थितियों में भूमि, संरक्षण, सैन्य सेवा और व्यक्तिगत निष्ठा से संबंधित संस्थाओं ने नया स्वरूप ग्रहण किया। इन प्रक्रियाओं ने यूरोपीय सामंती संबंधों के विकास में योगदान दिया।

4.7 बड़े भू-स्वामियों का उदय

भूमि पर अधिक नियंत्रण रखने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं का उदय सामंतवाद के विकास का एक अन्य कारण था। बड़े भू-स्वामी कृषि उत्पादन से अधिशेष प्राप्त करते थे और उसके आधार पर अपने आश्रितों, सैनिकों तथा प्रशासनिक कर्मचारियों का पालन-पोषण करते थे।

जब केंद्रीय शासन कमजोर हुआ, तो इन भू-स्वामियों की स्थानीय शक्ति बढ़ने लगी। वे अपने अधिकार क्षेत्र में सुरक्षा और न्याय प्रदान करने के साथ-साथ किसानों से लगान वसूल सकते थे। इससे ग्रामीण समाज में उनकी स्थिति अधिक प्रभावशाली हो गई।

4.8 संरक्षण और आश्रय की आवश्यकता

राजनीतिक अस्थिरता तथा आर्थिक संकट की स्थिति में छोटे किसान और कमजोर व्यक्ति शक्तिशाली व्यक्तियों के संरक्षण की तलाश करते थे। वे भूमि, सुरक्षा और आजीविका के बदले अपने श्रम अथवा उत्पादन का एक हिस्सा देने को तैयार हो सकते थे।

इस प्रकार संरक्षण की आवश्यकता ने सामाजिक निर्भरता के संबंधों को मजबूत किया। हालांकि ऐसे संबंधों में पारस्परिक सहयोग के साथ असमानता और शोषण की संभावना भी मौजूद रहती थी।

4.9 उत्तराधिकार और वंशानुगत अधिकार

समय के साथ कई क्षेत्रों में भूमि तथा सामंती पदों से जुड़े अधिकार वंशानुगत होने लगे। इससे शक्तिशाली परिवारों का प्रभाव स्थायी हुआ। वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी भूमि, राजनीतिक विशेषाधिकार और स्थानीय प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे।

वंशानुगत अधिकारों के विकास ने स्थानीय सामंतों को केंद्रीय सत्ता से अपेक्षाकृत स्वतंत्र होने का अवसर दिया। इससे सामंती व्यवस्था की स्थिरता बढ़ी, लेकिन अनेक क्षेत्रों में राजनीतिक विखंडन भी मजबूत हुआ।

4.10 स्थानीय स्वावलंबन और ग्रामीण आत्मनिर्भरता

प्रारंभिक मध्यकालीन यूरोप के कई क्षेत्रों में बड़े ग्रामीण भू-क्षेत्र या मैनर स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण आधार थे। इन क्षेत्रों में कृषि, पशुपालन, हस्तशिल्प और अन्य गतिविधियों के माध्यम से अनेक दैनिक आवश्यकताएँ पूरी की जाती थीं।

इस प्रकार की ग्रामीण आत्मनिर्भरता ने स्थानीय भू-स्वामियों की भूमिका को बढ़ाया। जब आर्थिक जीवन स्थानीय स्तर पर संगठित होता है, तो भूमि और ग्रामीण श्रम पर नियंत्रण रखने वाले व्यक्तियों का प्रभाव भी बढ़ सकता है।

फिर भी मध्यकालीन यूरोप पूर्णतः आत्मनिर्भर नहीं था। बाजार, मेले, शहरी केंद्र और क्षेत्रीय व्यापार विभिन्न रूपों में मौजूद थे। सामंती अर्थव्यवस्था और बाजार अर्थव्यवस्था के बीच संबंध समय तथा क्षेत्र के अनुसार बदलते रहे।

5. भारतीय संदर्भ में सामंतवाद का विकास

भारत में सामंतवाद के स्वरूप को समझने के लिए भूमि-अनुदानों, राजनीतिक अधीनता, कृषि संबंधों, स्थानीय शक्तियों और ग्रामीण समाज की संरचना का अध्ययन आवश्यक है। भारतीय इतिहासकारों के बीच भारतीय सामंतवाद की अवधारणा, उसकी समय-सीमा और विशेषताओं को लेकर मतभेद रहे हैं। कुछ इतिहासकार भूमि-अनुदानों और कृषकों पर बढ़ते नियंत्रण को सामंतवाद के विकास का प्रमुख आधार मानते हैं, जबकि अन्य विद्वान भारतीय क्षेत्रीय विविधता और स्थानीय संस्थाओं की स्वतंत्र प्रकृति पर बल देते हैं।

5.1 गुप्तोत्तर काल और राजनीतिक विकेंद्रीकरण

गुप्त साम्राज्य के विघटन के बाद उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों में राजनीतिक सत्ता का पुनर्गठन हुआ। विभिन्न क्षेत्रीय राजवंशों, स्थानीय शासकों और अधीनस्थ शक्तियों का उदय हुआ। इस प्रक्रिया में कुछ क्षेत्रों में केंद्रीय सत्ता की तुलना में स्थानीय शक्तियों का महत्त्व बढ़ा।

हालांकि गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद पूरे भारत में एक जैसी राजनीतिक स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। दक्षिण भारत, पूर्वी भारत, पश्चिमी भारत और दक्कन में अलग-अलग राजनीतिक तथा आर्थिक प्रक्रियाएँ सक्रिय थीं। इसलिए भारतीय सामंतवाद के विकास को क्षेत्रीय संदर्भों में समझना आवश्यक है।

5.2 भूमि-अनुदानों की परंपरा

प्राचीन भारत में धार्मिक संस्थाओं, ब्राह्मणों, अधिकारियों तथा अन्य व्यक्तियों को भूमि या उससे संबंधित अधिकार प्रदान करने की परंपरा विभिन्न कालों में विकसित हुई। गुप्तोत्तर और प्रारंभिक मध्यकाल में अनेक क्षेत्रों में भूमि-अनुदानों के अभिलेख मिलते हैं।

इन अनुदानों में कभी-कभी भूमि से प्राप्त राजस्व, करों और स्थानीय प्रशासन से जुड़े अधिकार भी सम्मिलित होते थे। इससे कुछ अनुदानग्राहियों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति मजबूत हुई। जब भूमि के साथ राजस्व-संग्रह और स्थानीय अधिकार भी प्रदान किए गए, तब स्थानीय सत्ता के विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया को बल मिल सकता था।

हालांकि सभी भूमि-अनुदान समान नहीं थे। कुछ अनुदान धार्मिक या शैक्षिक उद्देश्यों के लिए थे, जबकि अन्य में राजस्व अथवा प्रशासनिक अधिकार भी शामिल हो सकते थे। इसलिए भूमि-अनुदान को सीधे सामंतवाद का पर्याय नहीं माना जा सकता।

5.3 सामंत और अधीनस्थ शासक

प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय अभिलेखों में सामंत, महासामंत और अन्य अधीनस्थ पदों का उल्लेख मिलता है। ये पद अनेक परिस्थितियों में क्षेत्रीय शासकों, सैन्य सहयोगियों या राजकीय अधीनस्थों की स्थिति को व्यक्त करते थे।

कुछ सामंत अपने अधिपति के प्रति निष्ठा रखते थे, युद्ध के समय सैनिक सहायता प्रदान करते थे और राजनीतिक अवसरों पर राजकीय समर्थन देते थे। बदले में उन्हें भूमि, पद, उपाधियाँ अथवा अन्य विशेषाधिकार प्राप्त हो सकते थे।

समय के साथ कुछ अधीनस्थ शक्तियाँ स्वतंत्र राजवंशों के रूप में भी उभरीं। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय सामंती संबंध स्थिर नहीं थे, बल्कि राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते थे।

5.4 कृषकों और ग्रामीण समाज की स्थिति

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में किसान उत्पादन का प्रमुख आधार थे। भूमि पर खेती करने वाले कृषकों को विभिन्न प्रकार के कर, लगान और अन्य देयताओं का भुगतान करना पड़ता था। इन देयताओं का स्वरूप राज्य, स्थानीय भू-स्वामियों और क्षेत्रीय परंपराओं के अनुसार भिन्न हो सकता था।

कुछ क्षेत्रों में स्थानीय प्रभुओं और भू-स्वामियों का किसानों पर नियंत्रण बढ़ा। इससे कृषकों की आर्थिक स्वतंत्रता प्रभावित हो सकती थी। दूसरी ओर, सभी किसान एक समान स्थिति में नहीं थे। भूमि के अधिकार, जाति, स्थानीय प्रथाएँ, सिंचाई सुविधाएँ और बाजार तक पहुँच उनकी स्थिति को प्रभावित करते थे।

इसलिए भारतीय ग्रामीण समाज को केवल कृषिदासता के यूरोपीय मॉडल के आधार पर समझना उचित नहीं है।

5.5 मंदिर, मठ और धार्मिक संस्थाएँ

प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में अनेक मंदिरों और धार्मिक संस्थाओं को भूमि-अनुदान प्राप्त हुए। विशेष रूप से दक्षिण भारत में मंदिर आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के महत्त्वपूर्ण केंद्र बने। कुछ मंदिर भूमि, श्रम, सिंचाई, दान और स्थानीय विनिमय से जुड़े व्यापक नेटवर्क का हिस्सा थे।

इन संस्थाओं ने धार्मिक जीवन के अतिरिक्त शिक्षा, कला, स्थापत्य, संगीत और सामाजिक गतिविधियों को भी प्रभावित किया। कई स्थानों पर मंदिरों के आसपास बाजार और बस्तियाँ विकसित हुईं।

हालांकि मंदिरों की भूमिका सभी क्षेत्रों में एक समान नहीं थी। कुछ मंदिरों के पास पर्याप्त आर्थिक संसाधन थे, जबकि अन्य की भूमिका मुख्यतः स्थानीय धार्मिक जीवन तक सीमित थी। अतः मंदिरों को भारतीय सामंतवाद की एक महत्त्वपूर्ण संस्था मानते हुए भी उनकी विविधता को ध्यान में रखना चाहिए।

5.6 भारतीय सामंतवाद की अवधारणा पर इतिहासलेखन

भारतीय सामंतवाद पर इतिहासकारों के बीच व्यापक बहस हुई है। डी. डी. कोसांबी ने भारतीय समाज की ऐतिहासिक संरचना, उत्पादन संबंधों और सामाजिक परिवर्तन को समझने में भौतिक परिस्थितियों पर बल दिया। आर. एस. शर्मा ने विशेष रूप से प्रारंभिक मध्यकाल में भूमि-अनुदानों, राजस्व अधिकारों, कृषकों की स्थिति और राजनीतिक विकेंद्रीकरण के आधार पर भारतीय सामंतवाद की अवधारणा का विश्लेषण किया।

दूसरी ओर, कुछ इतिहासकारों ने यह प्रश्न उठाया कि क्या भारतीय समाज में विकसित भूमि संबंधों को यूरोपीय सामंतवाद की अवधारणा के अंतर्गत पूरी तरह समझा जा सकता है। क्षेत्रीय विविधता, व्यापार, नगरीकरण, जाति-व्यवस्था, धार्मिक संस्थाओं और राजनीतिक परंपराओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय सामंतवाद का स्वतंत्र विश्लेषण आवश्यक माना गया है।

इस बहस से स्पष्ट होता है कि सामंतवाद कोई ऐसा सार्वभौमिक ढाँचा नहीं है, जो प्रत्येक समाज में बिल्कुल समान रूप में विकसित हुआ हो। इसका अध्ययन ऐतिहासिक साक्ष्यों और क्षेत्रीय परिस्थितियों के आधार पर किया जाना चाहिए।

6. सामंतवाद के विभिन्न पहलू

सामंतवाद का व्यापक अध्ययन करने के लिए उसके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सैन्य, धार्मिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक पहलुओं का विश्लेषण आवश्यक है। इन पहलुओं के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि सामंतवाद केवल भूमि से संबंधित व्यवस्था नहीं था, बल्कि मध्यकालीन जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित करता था।

6.1 राजनीतिक पहलू

राजनीतिक दृष्टि से सामंतवाद का प्रमुख आधार सत्ता का विकेंद्रीकरण था। राजा के अधीन अनेक सामंत और स्थानीय प्रभु होते थे, जो अपने क्षेत्रों में प्रशासनिक अधिकारों का प्रयोग कर सकते थे। राजा की शक्ति सामंतों के सहयोग, सैन्य सहायता और राजनीतिक निष्ठा पर निर्भर रहती थी।

इस व्यवस्था का एक लाभ यह था कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार प्रशासन और सुरक्षा की व्यवस्था की जा सकती थी। लेकिन इसकी सीमा यह थी कि शक्तिशाली सामंत केंद्रीय सत्ता को चुनौती दे सकते थे। इससे राजकीय एकता कमजोर होती और उत्तराधिकार के संघर्षों अथवा सामंतों के विद्रोह की संभावना बढ़ जाती थी।

राजनीतिक विकेंद्रीकरण के कारण अनेक स्थानीय राज्यों और क्षेत्रीय शक्तियों का विकास हुआ। हालांकि यह प्रक्रिया केवल सामंतवाद की देन नहीं थी; भौगोलिक परिस्थितियाँ, क्षेत्रीय पहचान, व्यापारिक मार्ग और स्थानीय सैन्य संसाधन भी इसके महत्त्वपूर्ण कारण थे।

6.2 आर्थिक पहलू

आर्थिक दृष्टि से सामंतवाद कृषि उत्पादन और अधिशेष के वितरण पर आधारित था। किसान उत्पादन करते थे और उसका एक हिस्सा कर, लगान या अन्य देयताओं के रूप में शासक अथवा भू-स्वामी को देते थे।

सामंत इस अधिशेष का उपयोग सैन्य दलों, प्रशासनिक कर्मचारियों, धार्मिक संस्थाओं और अपने दरबार के खर्च के लिए करते थे। इस प्रकार ग्रामीण उत्पादन पर नियंत्रण आर्थिक शक्ति का प्रमुख आधार था।

कई क्षेत्रों में स्थानीय कृषि उत्पादन ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान की। लेकिन अत्यधिक लगान, बेगार और किसानों पर लगाए गए अन्य दायित्व उनकी आर्थिक स्थिति को कमजोर कर सकते थे। कृषि उत्पादन पर प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी अधिक था। अकाल, बाढ़, सूखा और युद्ध से उत्पादन घटने पर कृषक परिवारों की कठिनाइयाँ बढ़ जाती थीं।

6.3 सामाजिक पहलू

सामंतवादी समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा और अधिकारों का वितरण असमान था। भूमि पर नियंत्रण रखने वाले सामंतों तथा उच्च धार्मिक पदाधिकारियों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हो सकते थे। कृषक और श्रमिक वर्ग उत्पादन का प्रमुख भार वहन करते थे, लेकिन उनके अधिकार सीमित रहते थे।

सामाजिक पदानुक्रम ने शिक्षा, न्याय, राजनीतिक भागीदारी और संसाधनों तक पहुँच को प्रभावित किया। कई क्षेत्रों में जन्म और वंश के आधार पर प्रतिष्ठा निर्धारित होती थी। सामंती परिवार अपनी सामाजिक स्थिति को बनाए रखने के लिए विवाह संबंधों, सैन्य सेवा और राजनीतिक गठबंधनों का उपयोग करते थे।

इसके बावजूद सामाजिक संरचना पूरी तरह अपरिवर्तनीय नहीं थी। नगरों के विकास, व्यापार, प्रशासनिक सेवा, धार्मिक आंदोलनों और सैन्य गतिविधियों से कुछ व्यक्तियों तथा समूहों को नए अवसर प्राप्त हुए।

6.4 सैन्य पहलू

सामंतवाद में सैन्य संगठन स्थानीय प्रभुओं और उनके अधीनस्थों से जुड़ा था। राजा को युद्ध के समय सामंतों की सैनिक सहायता की आवश्यकता होती थी। सामंत अपने क्षेत्र से सैनिक उपलब्ध कराते थे और बदले में भूमि, पद अथवा अन्य लाभ प्राप्त कर सकते थे।

इस व्यवस्था में सैन्य शक्ति का विकेंद्रीकरण था। राजा के पास हमेशा इतनी स्थायी सेना नहीं होती थी कि वह सभी क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से सैन्य कार्रवाई कर सके। परिणामस्वरूप सामंतों का सहयोग राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता था।

लेकिन यही व्यवस्था केंद्रीय राजसत्ता की कमजोरी का कारण भी बन सकती थी। यदि सामंतों के हित राजा से अलग हो जाते, तो वे सैनिक सहायता देने से इनकार कर सकते थे या विद्रोह कर सकते थे।

6.5 धार्मिक पहलू

धर्म ने सामंती समाज की वैचारिक संरचना को प्रभावित किया। यूरोप में चर्च ने सामाजिक जीवन, शिक्षा, नैतिकता और राजनीतिक वैधता के क्षेत्र में प्रभावशाली भूमिका निभाई। धार्मिक संस्थाओं के पास भूमि और आर्थिक संसाधन होने के कारण वे सामंती समाज की आर्थिक संरचना का हिस्सा भी बन गईं।

भारत में मंदिरों, मठों, ब्राह्मणों और अन्य धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त भूमि-अनुदानों ने कुछ क्षेत्रों में धार्मिक तथा आर्थिक शक्ति के संबंधों को प्रभावित किया। धार्मिक संस्थाओं ने ज्ञान, साहित्य, स्थापत्य और सांस्कृतिक परंपराओं के संरक्षण में योगदान दिया।

हालांकि धर्म की भूमिका केवल सामंतवाद के समर्थन तक सीमित नहीं थी। धार्मिक और नैतिक विचारों के आधार पर शासकों की आलोचना, दान, लोककल्याण तथा सामाजिक सुधार के प्रयास भी किए जाते थे।

6.6 प्रशासनिक पहलू

सामंतवाद में प्रशासन का बड़ा भाग स्थानीय स्तर पर संचालित होता था। स्थानीय प्रभु राजस्व-संग्रह, न्याय, सुरक्षा और सार्वजनिक व्यवस्था से जुड़े कार्यों में भूमिका निभा सकते थे। इससे दूरस्थ क्षेत्रों में प्रशासन चलाने में सुविधा होती थी।

लेकिन प्रशासनिक अधिकारों के विभाजन से एकरूप कानूनों और समान कर-व्यवस्था का विकास कठिन हो सकता था। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग नियम और विशेषाधिकार लागू रहते थे। इससे व्यापार, यात्रा और राजकीय नियंत्रण प्रभावित हो सकता था।

केंद्रीकृत राज्य के विकास के साथ प्रशासनिक अधिकार धीरे-धीरे अधिक संगठित संस्थाओं में स्थानांतरित होने लगे। यही परिवर्तन आगे चलकर सामंतवाद के क्षरण का एक महत्त्वपूर्ण आधार बना।

6.7 सांस्कृतिक पहलू

सामंतवादी समाज में संस्कृति का विकास राजदरबारों, धार्मिक संस्थाओं, दुर्गों, मंदिरों, मठों और स्थानीय समुदायों के माध्यम से हुआ। सामंतों और राजाओं द्वारा संरक्षण दिए जाने से साहित्य, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला और धार्मिक कला को प्रोत्साहन मिला।

यूरोप में किलों, गिरजाघरों और मठों का निर्माण मध्यकालीन सांस्कृतिक जीवन की प्रमुख विशेषता थी। भारत में मंदिर स्थापत्य, क्षेत्रीय भाषाओं का विकास, धार्मिक साहित्य और शिल्प परंपराएँ विभिन्न राजवंशों तथा संस्थाओं के संरक्षण में विकसित हुईं।

हालांकि सांस्कृतिक उपलब्धियों के बावजूद समाज में संसाधनों और शिक्षा का वितरण असमान था। सांस्कृतिक संरक्षण का लाभ सभी वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँचता था।

6.8 न्यायिक पहलू

सामंती व्यवस्था में स्थानीय न्यायिक अधिकारों का विशेष महत्त्व था। अनेक क्षेत्रों में भू-स्वामी या स्थानीय प्रभु विवादों का निपटारा करते थे। भूमि, लगान, श्रम और स्थानीय अधिकारों से संबंधित मामलों में उनकी भूमिका प्रभावशाली थी।

इस व्यवस्था से स्थानीय प्रथाओं के आधार पर विवादों का समाधान संभव था। परंतु शक्तिशाली भू-स्वामियों के हित न्यायिक प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते थे। कृषकों और निर्बल समूहों के लिए समान न्याय प्राप्त करना कठिन हो सकता था।

केंद्रीय राजसत्ता के मजबूत होने पर न्यायिक अधिकारों का पुनर्गठन हुआ और अनेक क्षेत्रों में राजकीय न्यायालयों तथा लिखित कानूनों का महत्त्व बढ़ा।

6.9 तकनीकी और कृषि संबंधी पहलू

सामंतवादी अर्थव्यवस्था कृषि पर निर्भर थी, इसलिए कृषि तकनीक, सिंचाई, पशुपालन और भूमि उपयोग की पद्धतियों का विशेष महत्त्व था। यूरोप के कुछ क्षेत्रों में भारी हल, घोड़े की जुताई, फसल चक्र और अन्य तकनीकी सुधारों ने कृषि उत्पादन को प्रभावित किया।

भारत में सिंचाई, तालाबों, कुओं, नहरों, कृषि उपकरणों और स्थानीय कृषि ज्ञान ने विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन को प्रभावित किया। इन साधनों के विकास से कृषि अधिशेष और स्थानीय अर्थव्यवस्था के विस्तार की संभावनाएँ बढ़ीं।

हालांकि तकनीकी परिवर्तन सभी क्षेत्रों में समान गति से नहीं हुए। पर्यावरण, श्रम की उपलब्धता, राज्य की नीतियाँ और स्थानीय संसाधन कृषि विकास को प्रभावित करते थे।

6.10 स्त्रियों की स्थिति

सामंतवादी समाज में महिलाओं की स्थिति वर्ग, क्षेत्र, परिवार, संपत्ति के अधिकार और स्थानीय परंपराओं के अनुसार अलग-अलग थी। उच्च वर्ग की कुछ महिलाओं को भूमि, उत्तराधिकार और राजनीतिक गठबंधनों में भूमिका मिल सकती थी, जबकि सामान्य कृषक महिलाओं को घरेलू कार्यों के साथ कृषि श्रम में भी योगदान देना पड़ता था।

यूरोप के कुछ क्षेत्रों में सामंती परिवारों की महिलाएँ पति की अनुपस्थिति में संपत्ति और प्रशासन की देखरेख करती थीं। फिर भी उत्तराधिकार और राजनीतिक अधिकारों पर पुरुषों का प्रभाव प्रायः अधिक था।

भारत में भी महिलाओं की स्थिति विभिन्न सामाजिक समूहों और कालखंडों में भिन्न थी। कुछ शाही और सामंती परिवारों की महिलाएँ धार्मिक दान, भूमि-अनुदान तथा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेती थीं। दूसरी ओर, अनेक महिलाओं को संपत्ति, शिक्षा और सार्वजनिक जीवन में सीमाओं का सामना करना पड़ता था।

इसलिए सामंतवादी समाज में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन किसी एक सामान्य निष्कर्ष के बजाय क्षेत्रीय और सामाजिक विविधताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

7. सामंतवाद का विकास और उसका विस्तार

सामंतवाद का विकास एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। यूरोप में इसका निर्माण पश्चिमी रोमन साम्राज्य के विघटन, स्थानीय सुरक्षा की आवश्यकता, भूमि आधारित अर्थव्यवस्था और सैन्य सेवा से जुड़े संबंधों के बीच हुआ। प्रारंभिक मध्यकाल में ये संबंध अलग-अलग रूपों में विकसित हुए और बाद में अनेक क्षेत्रों में अधिक व्यवस्थित संस्थाओं का रूप लेने लगे।

लगभग दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच यूरोप के कई भागों में सामंती संबंधों और मैनर आधारित कृषि व्यवस्था का प्रभाव बढ़ा। स्थानीय प्रभुओं के पास भूमि, दुर्ग, सैनिक और न्यायिक अधिकारों का नियंत्रण हो सकता था। कृषकों से लगान और श्रम प्राप्त कर सामंत अपने संसाधनों को बनाए रखते थे।

इसी अवधि में कृषि उत्पादन, जनसंख्या, व्यापार और नगरों का भी विस्तार हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि सामंती व्यवस्था और आर्थिक विकास एक-दूसरे के विरोधी नहीं थे। कुछ क्षेत्रों में सामंती संस्थाएँ व्यापार तथा बाजारों के साथ सह-अस्तित्व में रहीं।

भारत में प्रारंभिक मध्यकाल के दौरान विभिन्न क्षेत्रों में क्षेत्रीय राज्यों, भूमि-अनुदानों और स्थानीय प्रभुओं का विकास हुआ। कुछ स्थानों पर राजनीतिक अधिकारों के विकेंद्रीकरण तथा कृषि अधिशेष पर नियंत्रण ने सामंती संबंधों को मजबूत किया। परंतु भारत के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापार, शहरीकरण और राज्य निर्माण की प्रक्रियाएँ अलग-अलग थीं।

इस प्रकार सामंतवाद का विकास न तो पूरी दुनिया में एक ही समय पर हुआ और न ही उसका स्वरूप सर्वत्र समान था। उसकी प्रकृति को समझने के लिए राजनीतिक संस्थाओं, आर्थिक संबंधों और सामाजिक संरचना के परस्पर प्रभाव का अध्ययन आवश्यक है।

8. सामंतवाद के पतन का अर्थ

सामंतवाद का पतन उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को कहा जाता है, जिसमें भूमि पर आधारित सामंती अधिकारों, कृषकों पर पारंपरिक नियंत्रण, स्थानीय प्रभुओं की राजनीतिक शक्ति तथा सैन्य सेवा पर आधारित संबंधों का महत्त्व धीरे-धीरे कम होने लगा। इसके स्थान पर अधिक केंद्रीकृत राजसत्ता, नकद कर-व्यवस्था, वेतनभोगी सेना, बाजार आधारित अर्थव्यवस्था और अपेक्षाकृत स्वतंत्र श्रम संबंधों का विकास हुआ।

सामंतवाद का पतन किसी एक घटना से नहीं हुआ। यह अनेक शताब्दियों तक चलने वाली प्रक्रिया थी। यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में इसके परिवर्तन की गति और स्वरूप अलग-अलग थे। पश्चिमी यूरोप के कुछ भागों में मध्यकाल के उत्तरार्द्ध से सामंती संस्थाएँ कमजोर होने लगीं, जबकि पूर्वी यूरोप के कुछ क्षेत्रों में कृषकों पर नियंत्रण और बंधुआ श्रम की व्यवस्थाएँ लंबे समय तक बनी रहीं।

इसी प्रकार भारतीय संदर्भ में भी सामंती संबंधों के क्षरण को एक निश्चित वर्ष या एक घटना से जोड़ना कठिन है। क्षेत्रीय राज्यों, राजस्व व्यवस्थाओं, औपनिवेशिक शासन, भूमि संबंधों और आधुनिक प्रशासन के विकास ने अलग-अलग कालखंडों में स्थानीय प्रभुओं की शक्ति को प्रभावित किया।

सामंतवाद के पतन को समझने के लिए उसके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सैन्य और वैचारिक आधारों में हुए परिवर्तन का अध्ययन करना आवश्यक है।

9. यूरोप में सामंतवाद के पतन के प्रमुख कारण

यूरोप में सामंतवाद का पतन मध्यकालीन इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकारी प्रक्रियाओं में से एक था। इस प्रक्रिया ने यूरोपीय समाज की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संरचना को बदल दिया। सामंतवाद के पतन के परिणामस्वरूप स्थानीय सामंतों की शक्ति में कमी आई, राजसत्ता अधिक केंद्रीकृत हुई, नगरों और व्यापार का विकास हुआ तथा आधुनिक राज्य के निर्माण की परिस्थितियाँ तैयार हुईं।

सामंतवाद के पतन का कोई एक कारण नहीं था। इसके पीछे कृषि अर्थव्यवस्था में परिवर्तन, व्यापार का विस्तार, नगरों का विकास, मुद्रा का बढ़ता प्रयोग, कृषक विद्रोह, महामारी, सैन्य तकनीक में परिवर्तन, राजसत्ता का सुदृढ़ीकरण, धार्मिक संस्थाओं की शक्ति में परिवर्तन और पुनर्जागरण जैसी अनेक प्रक्रियाएँ सक्रिय थीं। इन कारणों ने अलग-अलग समय पर तथा अलग-अलग क्षेत्रों में सामंती व्यवस्था को प्रभावित किया।

9.1 व्यापार एवं वाणिज्य का विकास

सामंतवाद के पतन का एक प्रमुख कारण व्यापार और वाणिज्य का विस्तार था। प्रारंभिक मध्यकालीन यूरोप के अनेक क्षेत्रों में स्थानीय कृषि उत्पादन का विशेष महत्त्व था, लेकिन बाद के मध्यकाल में क्षेत्रीय तथा दूरगामी व्यापार का विस्तार होने लगा। भूमध्यसागरीय व्यापार, इतालवी नगरों की गतिविधियों और यूरोप के अन्य व्यापारिक मार्गों ने आर्थिक जीवन को नई दिशा प्रदान की।

व्यापार के विस्तार से वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय बढ़ा। कपड़ा, धातु, मसाले, शराब, नमक तथा अन्य वस्तुओं के व्यापार ने नए आर्थिक अवसर उत्पन्न किए। व्यापारियों ने भूमि से स्वतंत्र धन और संपत्ति अर्जित करना प्रारंभ किया। इससे आर्थिक शक्ति के पारंपरिक आधार में परिवर्तन आया।

सामंती व्यवस्था में भूमि और कृषि अधिशेष आर्थिक शक्ति के प्रमुख स्रोत थे, जबकि व्यापारिक अर्थव्यवस्था में धन, पूँजी, बाजार और व्यावसायिक कौशल का महत्त्व बढ़ने लगा। व्यापारियों की आर्थिक स्थिति मजबूत होने से वे स्थानीय सामंतों के पूर्ण नियंत्रण से बाहर निकलने में सक्षम हुए।

व्यापार के विस्तार ने सामंतवाद को तत्काल समाप्त नहीं किया। अनेक सामंत स्वयं व्यापार, ऋण और शहरी आय से लाभ प्राप्त करने लगे। फिर भी व्यापारिक अर्थव्यवस्था के विकास ने भूमि पर आधारित पारंपरिक शक्ति के एकाधिकार को कमजोर किया और नए सामाजिक वर्गों के उदय का मार्ग प्रशस्त किया।

9.2 नगरों का विकास

नगरों का विकास सामंतवाद के पतन की प्रक्रिया में अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में यूरोप के अनेक क्षेत्रों में बाजारों, व्यापारिक केंद्रों, बंदरगाहों और शिल्प उत्पादन से जुड़े नगरों का विस्तार हुआ। नगरों में व्यापारियों, कारीगरों, साहूकारों और अन्य व्यवसायों से जुड़े लोगों की संख्या बढ़ने लगी।

नगरों की आर्थिक व्यवस्था गाँवों से अलग थी। यहाँ धन, व्यापार, श्रम, शिल्प और बाजार का विशेष महत्त्व था। नगरों में रहने वाले लोगों के हित सामंती ग्रामीण व्यवस्था से कई मामलों में भिन्न थे। इसलिए अनेक नगरों ने सामंतों के पारंपरिक अधिकारों से स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयास किया।

यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में नगरों को विशेषाधिकार, स्वशासन, बाजार लगाने के अधिकार और अपने प्रशासन के संचालन की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। नगरों की यह स्वायत्तता स्थानीय सामंतों की शक्ति को चुनौती देती थी।

नगरों में रहने वाले लोगों ने आर्थिक गतिविधियों के माध्यम से अपनी स्थिति मजबूत की। कुछ नगरों में व्यापारी संगठनों और कारीगर संघों का विकास हुआ। इन संस्थाओं ने उत्पादन, व्यापार और सामाजिक जीवन को प्रभावित किया।

इस प्रकार नगरों का विकास एक ऐसी नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के उदय का प्रतीक था, जिसमें व्यक्ति की स्थिति केवल भूमि, जन्म और सामंती निष्ठा से निर्धारित नहीं होती थी।

9.3 मुद्रा अर्थव्यवस्था का विस्तार

सामंतवाद के पतन में मुद्रा अर्थव्यवस्था के विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। जैसे-जैसे व्यापार, बाजार और शहरी गतिविधियाँ बढ़ीं, नकद लेन-देन का महत्त्व भी बढ़ने लगा। इससे भूमि और वस्तुओं पर आधारित पारंपरिक आर्थिक संबंधों में परिवर्तन आया।

सामंती व्यवस्था में अनेक प्रकार के दायित्व श्रम अथवा कृषि उपज के रूप में पूरे किए जाते थे। लेकिन धीरे-धीरे कुछ क्षेत्रों में कृषकों से श्रम सेवा लेने के स्थान पर नकद लगान प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। इससे सामंती आर्थिक संबंधों का स्वरूप बदलने लगा।

नकद लगान की व्यवस्था से किसानों को बाजार के साथ अधिक जुड़ना पड़ा। उन्हें अपनी उपज बेचकर नकदी प्राप्त करनी होती थी, जिससे कृषि उत्पादन पर बाजार की माँग का प्रभाव बढ़ा। साथ ही, सामंतों को अपनी आय प्राप्त करने के लिए कृषि उत्पादन और बाजार की परिस्थितियों पर अधिक निर्भर होना पड़ा।

मुद्रा अर्थव्यवस्था के विस्तार ने व्यापारियों और साहूकारों की भूमिका भी बढ़ाई। ऋण, बैंकिंग और वित्तीय लेन-देन के विकास से आर्थिक शक्ति के नए स्रोत उत्पन्न हुए। इससे भूमि पर आधारित सामंती व्यवस्था का महत्त्व कुछ क्षेत्रों में कम होने लगा।

हालांकि नकद लगान का प्रसार हमेशा किसानों के लिए लाभकारी नहीं था। बाजार की कीमतों में गिरावट, ऋणग्रस्तता और करों के दबाव से उनकी स्थिति कठिन भी हो सकती थी। इसलिए मुद्रा अर्थव्यवस्था का विकास सामंतवाद के पतन का एक महत्त्वपूर्ण कारण तो था, लेकिन इसका प्रभाव सभी वर्गों पर समान नहीं पड़ा।

9.4 मध्यकालीन कृषि में परिवर्तन

कृषि उत्पादन में वृद्धि तथा कृषि पद्धतियों में परिवर्तन ने सामंती अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया। यूरोप के कुछ क्षेत्रों में बेहतर कृषि उपकरणों, फसल चक्र, पशु शक्ति के उपयोग और भूमि के अधिक व्यवस्थित उपयोग से उत्पादन में वृद्धि हुई।

कृषि उत्पादन बढ़ने से जनसंख्या में वृद्धि, बाजारों के विस्तार और शहरी केंद्रों के विकास की संभावनाएँ बढ़ीं। ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन का कुछ भाग स्थानीय उपभोग से आगे बढ़कर बाजार में जाने लगा। इससे कृषि और व्यापार के बीच संबंध मजबूत हुए।

कृषि में परिवर्तन ने सामंतों की आय को भी प्रभावित किया। कुछ सामंत बढ़ते उत्पादन से लाभान्वित हुए, जबकि अन्य को श्रम की लागत, बाजार की परिस्थितियों और बदलते सामाजिक संबंधों के अनुसार अपनी व्यवस्था में परिवर्तन करना पड़ा।

समय के साथ कृषि उत्पादन में बाजार की भूमिका बढ़ने से पारंपरिक सामंती दायित्वों का आर्थिक आधार कमजोर होने लगा। फिर भी कृषि परिवर्तन का प्रभाव क्षेत्रीय था और कई क्षेत्रों में सामंती भूमि संबंध लंबे समय तक बने रहे।

9.5 सामंतों के आपसी संघर्ष और युद्ध

सामंतों के बीच संघर्ष सामंती व्यवस्था की कमजोरी का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। मध्यकालीन यूरोप में भूमि, उत्तराधिकार, राजनीतिक प्रतिष्ठा और क्षेत्रीय अधिकारों को लेकर अनेक संघर्ष होते थे। इन युद्धों से कृषि भूमि, गाँवों, व्यापारिक मार्गों और स्थानीय अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचता था।

सामंतों के बीच संघर्षों में संसाधनों का बड़ा भाग खर्च हो जाता था। युद्ध के लिए सैनिकों, हथियारों, दुर्गों और अन्य सैन्य साधनों की आवश्यकता होती थी। इन खर्चों को पूरा करने के लिए कभी-कभी किसानों पर अधिक कर और लगान लगाए जाते थे।

दीर्घकालीन युद्धों ने अनेक सामंतों को आर्थिक रूप से कमजोर किया। कुछ को ऋण लेना पड़ा, कुछ ने अपनी भूमि या अधिकार बेच दिए और कुछ की राजनीतिक स्थिति कमजोर हो गई। इस प्रक्रिया से केंद्रीय राजसत्ता को अपनी शक्ति बढ़ाने के अवसर प्राप्त हुए।

हालाँकि युद्धों का प्रभाव हमेशा सामंतों के विरुद्ध नहीं था। कुछ सामंत युद्धों के माध्यम से अपने क्षेत्र का विस्तार भी करते थे। लेकिन जब युद्धों ने पारंपरिक सामंती सैन्य संगठन की सीमाएँ उजागर कीं, तब अधिक संगठित राजकीय सेनाओं और प्रशासनिक संस्थाओं के विकास की आवश्यकता बढ़ी।

9.6 शक्तिशाली केंद्रीकृत राजतंत्र का उदय

सामंतवाद के पतन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारण केंद्रीकृत राजतंत्र का विकास था। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में यूरोप के अनेक क्षेत्रों में राजाओं ने स्थानीय सामंतों की स्वतंत्र शक्ति को सीमित करने का प्रयास किया। उन्होंने कर-संग्रह, न्याय, प्रशासन और सैन्य संगठन को अपने नियंत्रण में लाने की दिशा में कदम उठाए।

केंद्रीकृत राजतंत्र के विकास से राजा को सामंतों पर निर्भरता कम करने का अवसर मिला। राजाओं ने राजस्व के नियमित स्रोत विकसित किए, प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति की और न्यायिक अधिकारों को अधिक व्यवस्थित किया।

राजकीय न्यायालयों और लिखित प्रशासनिक प्रक्रियाओं के विस्तार से स्थानीय सामंतों के स्वतंत्र न्यायिक अधिकारों पर अंकुश लगाया जा सकता था। इसी प्रकार राजा द्वारा सीधे कर वसूलने की क्षमता बढ़ने से सामंतों की आर्थिक शक्ति प्रभावित हुई।

फ्रांस और इंग्लैंड जैसे क्षेत्रों में राजसत्ता ने विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में अपनी स्थिति मजबूत की। फिर भी केंद्रीकरण की प्रक्रिया एक समान नहीं थी। कुछ क्षेत्रों में सामंत लंबे समय तक शक्तिशाली बने रहे और अनेक राजाओं को उनके साथ समझौते करने पड़े।

9.7 स्थायी सेना का विकास

सामंती सैन्य व्यवस्था में राजा युद्ध के समय सामंतों की सैनिक सहायता पर निर्भर रहता था। सामंत अपने अधीनस्थ सैनिकों को निर्धारित अवधि तक सैन्य सेवा के लिए भेज सकते थे। लेकिन लंबे युद्धों और बदलती सैन्य आवश्यकताओं के कारण यह व्यवस्था कई बार अपर्याप्त सिद्ध हुई।

केंद्रीय राजसत्ता ने धीरे-धीरे वेतनभोगी सैनिकों और अधिक नियमित सैन्य संगठनों के विकास की दिशा में कदम उठाए। इससे राजा को युद्ध के समय सामंतों के व्यक्तिगत सहयोग पर पूरी तरह निर्भर नहीं रहना पड़ता था।

स्थायी अथवा नियमित सेना के विकास के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी। इसके परिणामस्वरूप राजाओं ने कर-व्यवस्था को मजबूत किया और प्रशासनिक संस्थाओं का विस्तार किया। इस प्रक्रिया ने केंद्रीय सत्ता को और सुदृढ़ किया।

स्थायी सेना का विकास सामंतवाद के सैन्य आधार को कमजोर करने वाला कारक था। जब राजा स्वतंत्र रूप से सेना संगठित करने में सक्षम हुआ, तो सामंतों की सैनिक शक्ति पर उसकी निर्भरता कम होने लगी।

9.8 बारूद और सैन्य तकनीक का विकास

बारूद के उपयोग तथा तोपों और आग्नेयास्त्रों के विकास ने यूरोप की सैन्य व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। मध्यकालीन सामंतों की शक्ति का एक आधार उनके दुर्ग और सशस्त्र घुड़सवार सैनिक थे। लेकिन शक्तिशाली तोपों के विकास से अनेक पारंपरिक दुर्गों की सैन्य उपयोगिता प्रभावित हुई।

नई सैन्य तकनीकों के उपयोग के लिए अधिक धन, प्रशिक्षित सैनिकों और संगठित प्रशासन की आवश्यकता थी। यह व्यवस्था प्रायः केंद्रीकृत राजसत्ता के लिए अधिक अनुकूल थी, क्योंकि उसके पास व्यापक कर-संग्रह और संसाधनों को संगठित करने की बेहतर क्षमता हो सकती थी।

सैन्य तकनीक में परिवर्तन से सामंतों की स्वतंत्र सैन्य शक्ति का महत्त्व कम होने लगा। राजाओं को ऐसे साधन प्राप्त हुए जिनके माध्यम से वे विद्रोही सामंतों के दुर्गों और सैन्य ठिकानों को चुनौती दे सकते थे।

फिर भी बारूद और तोपों के विकास को सामंतवाद के पतन का अकेला कारण नहीं माना जा सकता। इसका प्रभाव व्यापार, राजस्व, राज्य निर्माण और सैन्य संगठन में हो रहे व्यापक परिवर्तनों के साथ मिलकर सामने आया।

9.9 भाड़े के सैनिकों और पैदल सेना का महत्त्व

मध्यकालीन यूरोप में सैन्य संगठन केवल सामंती घुड़सवारों पर आधारित नहीं रहा। समय के साथ पैदल सेना, धनुर्धारियों और भाड़े के सैनिकों की भूमिका बढ़ी। कुछ क्षेत्रों में संगठित पैदल सेना ने युद्ध के परिणामों को प्रभावित किया।

भाड़े के सैनिकों को भुगतान करके नियुक्त किया जा सकता था। इससे राजा या शक्तिशाली शासक को सामंतों की पारंपरिक सैन्य सेवा से अलग सैन्य शक्ति प्राप्त करने का अवसर मिला।

सैन्य संगठन में इन परिवर्तनों से सामंतों की विशिष्ट सैन्य भूमिका कमजोर हो सकती थी। साथ ही, नियमित भुगतान और सैनिकों की भर्ती के लिए अधिक विकसित वित्तीय व्यवस्था की आवश्यकता बढ़ी। इससे राजस्व और प्रशासन का केंद्रीकरण प्रोत्साहित हुआ।

9.10 सामंतों की आर्थिक कमजोरी और ऋणग्रस्तता

सामंतों की आर्थिक स्थिति अनेक कारणों से कमजोर होने लगी। युद्धों पर होने वाला खर्च, विलासितापूर्ण जीवन, राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, ऋण और बदलती बाजार परिस्थितियों ने कुछ सामंती परिवारों को आर्थिक संकट में डाल दिया।

कुछ सामंत अपनी आय बढ़ाने के लिए किसानों पर अधिक लगान लगाने लगे। इससे कृषक असंतोष बढ़ सकता था। दूसरी ओर, व्यापार और मुद्रा अर्थव्यवस्था के विस्तार से कुछ भू-स्वामियों को अपनी पारंपरिक आय के अतिरिक्त नए स्रोतों की तलाश करनी पड़ी।

आर्थिक संकट से जूझ रहे कुछ सामंतों ने अपनी भूमि या अधिकारों को बेच दिया अथवा उन्हें अन्य शक्तिशाली व्यक्तियों के हाथों में सौंप दिया। इससे स्थानीय शक्ति-संतुलन में परिवर्तन आया।

हालांकि सभी सामंत आर्थिक रूप से कमजोर नहीं हुए। कुछ सामंती परिवारों ने बाजार, व्यापार और राजकीय सेवा से लाभ प्राप्त किया। इसलिए आर्थिक कमजोरी को व्यापक परिवर्तन का एक घटक माना जाना चाहिए, न कि सभी सामंतों की समान स्थिति।

9.11 सामंतवाद के विरुद्ध कृषक असंतोष

किसानों पर लगान, बेगार, श्रम सेवा और अन्य आर्थिक दायित्वों का दबाव सामंती व्यवस्था की एक प्रमुख समस्या थी। जब ये दायित्व अत्यधिक हो जाते थे या किसानों की आजीविका संकट में पड़ती थी, तो असंतोष बढ़ता था।

कृषकों का असंतोष कभी-कभी सामूहिक विरोध, करों का भुगतान न करने, श्रम सेवा से इनकार करने या विद्रोह के रूप में सामने आता था। ऐसे आंदोलनों ने स्थानीय सामंतों और शासकों को अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया।

किसानों के विद्रोहों का उद्देश्य हमेशा सामंतवाद को पूरी तरह समाप्त करना नहीं था। अनेक आंदोलनों में करों में कमी, बेगार से मुक्ति, स्थानीय अधिकारों की रक्षा या बेहतर जीवन स्थितियों की माँग की जाती थी।

फिर भी कृषक असंतोष ने सामंती प्रभुओं की सत्ता की सीमाओं को उजागर किया। जहाँ किसानों को वैकल्पिक आजीविका, नगरों में रोजगार या बेहतर कानूनी संरक्षण प्राप्त हुआ, वहाँ पारंपरिक सामंती निर्भरता को चुनौती देने की संभावनाएँ बढ़ीं।

9.12 1381 का इंग्लैंड का कृषक विद्रोह

इंग्लैंड का 1381 का कृषक विद्रोह मध्यकालीन यूरोप में कृषक असंतोष का एक प्रसिद्ध उदाहरण है। इस विद्रोह के पीछे करों का दबाव, श्रम संबंधी प्रतिबंध और सामाजिक-आर्थिक असंतोष जैसे अनेक कारण थे। विशेष रूप से कर-संग्रह और श्रम व्यवस्था से संबंधित समस्याओं ने ग्रामीण समाज में असंतोष को बढ़ाया।

विद्रोह में विभिन्न ग्रामीण समूहों ने भाग लिया। आंदोलन के दौरान विद्रोहियों ने करों और पारंपरिक दायित्वों के विरुद्ध अपनी माँगें प्रस्तुत कीं। यद्यपि विद्रोह को अंततः दबा दिया गया, लेकिन इसने इंग्लैंड की सामंती सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त तनाव को उजागर किया।

इस विद्रोह को सामंतवाद के तत्काल अंत के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसका महत्त्व इस बात में था कि किसानों ने संगठित होकर अपने अधिकारों और आर्थिक स्थिति से संबंधित प्रश्नों को राजनीतिक मुद्दा बनाया।

9.13 फ्रांस में कृषक विद्रोह और जैकरी आंदोलन

फ्रांस में 1358 का जैकरी आंदोलन सामंती व्यवस्था के विरुद्ध कृषक असंतोष का एक प्रमुख उदाहरण है। उस समय फ्रांस सौ वर्षीय युद्ध के कारण राजनीतिक अस्थिरता, सैन्य संकट और आर्थिक कठिनाइयों से गुजर रहा था।

युद्ध के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में असुरक्षा बढ़ी और किसानों को आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा। सामंतों की सैन्य विफलताओं तथा ग्रामीण समाज पर पड़ने वाले दबाव ने असंतोष को बढ़ाया। इसी पृष्ठभूमि में अनेक किसानों ने विद्रोह किया।

जैकरी आंदोलन को अंततः दबा दिया गया, लेकिन इसने सामंती प्रभुओं और कृषक समाज के बीच तनाव को स्पष्ट कर दिया। इससे यह समझने में सहायता मिलती है कि युद्ध, आर्थिक संकट और सामाजिक असमानता मिलकर सामंती व्यवस्था को किस प्रकार चुनौती दे सकते थे।

9.14 ब्लैक डेथ अर्थात् काली मृत्यु की महामारी

चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में फैली ब्लैक डेथ महामारी ने सामंती अर्थव्यवस्था और समाज को गहराई से प्रभावित किया। लगभग 1347 से 1352 के बीच महामारी के कारण यूरोप की बड़ी जनसंख्या की मृत्यु हुई। विभिन्न क्षेत्रों में मृत्यु-दर अलग-अलग थी, लेकिन इसके सामाजिक और आर्थिक परिणाम व्यापक थे।

महामारी से कृषि श्रमिकों और कारीगरों की संख्या में कमी आई। अनेक गाँव उजड़ गए और कई कृषि क्षेत्रों में श्रम की उपलब्धता घट गई। इससे श्रमिकों की माँग और मजदूरी पर प्रभाव पड़ा।

जहाँ श्रमिकों की कमी हुई, वहाँ बचे हुए किसानों और मजदूरों को बेहतर मजदूरी या अधिक अनुकूल शर्तों की माँग करने का अवसर मिल सकता था। कुछ किसानों ने बेहतर अवसरों की तलाश में स्थान परिवर्तन किया। इससे भू-स्वामियों के लिए पुराने श्रम संबंधों को बनाए रखना कठिन हो सकता था।

कई शासकों और भू-स्वामियों ने मजदूरी तथा श्रम पर नियंत्रण रखने के प्रयास किए। इन प्रयासों के विरुद्ध भी असंतोष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार महामारी ने जनसंख्या, श्रम बाजार और कृषि अर्थव्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए, जिनका प्रभाव सामंती व्यवस्था पर पड़ा।

हालाँकि ब्लैक डेथ ने पूरे यूरोप में सामंतवाद को एक ही समय पर समाप्त नहीं किया। कुछ क्षेत्रों में कृषकों की स्वतंत्रता बढ़ी, जबकि अन्य क्षेत्रों में भू-स्वामियों ने श्रम पर अपना नियंत्रण बनाए रखा या उसे और कठोर किया।

9.15 जनसंख्या में परिवर्तन

जनसंख्या में परिवर्तन भी सामंती व्यवस्था के विकास और पतन से जुड़ा था। तेरहवीं शताब्दी तक यूरोप के अनेक क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि ने कृषि भूमि और संसाधनों पर दबाव बढ़ाया। चौदहवीं शताब्दी में महामारी, अकाल और युद्धों ने जनसंख्या को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

जनसंख्या में गिरावट से कई क्षेत्रों में श्रमिकों की कमी उत्पन्न हुई। इससे किसानों और मजदूरों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आया। जहाँ श्रम की माँग अधिक और श्रमिक कम थे, वहाँ श्रमिक बेहतर शर्तें प्राप्त करने का प्रयास कर सकते थे।

इसके विपरीत, जनसंख्या वृद्धि की परिस्थितियों में भूमि पर दबाव बढ़ सकता था और किसानों की स्थिति कमजोर हो सकती थी। इसलिए जनसंख्या का प्रभाव हमेशा एक जैसा नहीं था।

जनसंख्या में परिवर्तन ने भूमि, श्रम, मजदूरी और उत्पादन के बीच संबंधों को बदल दिया। इससे सामंती अर्थव्यवस्था की पारंपरिक संरचना पर प्रभाव पड़ा।

9.16 अकाल और आर्थिक संकट

मध्यकालीन यूरोप में कृषि उत्पादन प्राकृतिक परिस्थितियों पर बहुत निर्भर था। सूखा, अत्यधिक वर्षा, फसल की विफलता और अन्य प्राकृतिक संकट अकाल का कारण बन सकते थे। अकाल से कृषि उत्पादन कम होता, खाद्य पदार्थों की कीमतें बढ़तीं और किसानों की आर्थिक स्थिति कमजोर हो जाती थी।

किसानों के पास पर्याप्त अनाज नहीं रहने पर भी लगान और अन्य दायित्वों का दबाव बना रह सकता था। इससे ऋणग्रस्तता, भूमि छोड़ने और सामाजिक असंतोष की संभावना बढ़ती थी।

अकाल और महामारी कई बार एक-दूसरे को बढ़ाते थे। कुपोषण से लोग बीमारियों के प्रति अधिक संवेदनशील हो सकते थे, जबकि महामारी से श्रम की उपलब्धता और उत्पादन दोनों प्रभावित होते थे।

इन परिस्थितियों ने सामंती अर्थव्यवस्था की कमजोरियों को उजागर किया। फिर भी अकाल सामंतवाद के पतन का अकेला कारण नहीं था; इसका प्रभाव युद्धों, श्रम संबंधों, बाजारों और राजकीय नीतियों के साथ मिलकर सामने आया।

9.17 चर्च की शक्ति में परिवर्तन

मध्यकालीन यूरोप में चर्च एक प्रभावशाली धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्था था। उसके पास भूमि और अन्य संसाधन थे तथा वह शिक्षा और सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करता था। लेकिन समय के साथ चर्च की राजनीतिक शक्ति को विभिन्न चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

राजाओं और चर्च के बीच नियुक्तियों, करों, संपत्ति तथा अधिकारों को लेकर संघर्ष होते रहे। कई शासकों ने धार्मिक संस्थाओं पर अपना नियंत्रण बढ़ाने का प्रयास किया। इससे चर्च की स्वतंत्र राजनीतिक भूमिका प्रभावित हुई।

चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में चर्च की प्रतिष्ठा को विभिन्न संकटों और आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। बाद में सोलहवीं शताब्दी का धर्म-सुधार आंदोलन पश्चिमी यूरोप के धार्मिक तथा राजनीतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लेकर आया।

हालाँकि चर्च की शक्ति में परिवर्तन को सीधे सामंतवाद के अंत के बराबर नहीं माना जा सकता। अनेक धार्मिक संस्थाएँ लंबे समय तक भूमि और संपत्ति पर अधिकार बनाए रहीं। फिर भी धार्मिक अधिकारों और राजकीय सत्ता के बीच बदलते संबंधों ने मध्यकालीन यूरोपीय व्यवस्था के पुनर्गठन में योगदान दिया।

9.18 पुनर्जागरण का प्रभाव

पुनर्जागरण यूरोप में बौद्धिक, साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया थी। इसका प्रारंभ विशेष रूप से इतालवी नगरों में हुआ और बाद में यह यूरोप के अन्य क्षेत्रों में फैला।

पुनर्जागरण ने प्राचीन यूनानी और रोमन ज्ञान के अध्ययन, मानव क्षमता, साहित्य, कला और बौद्धिक जिज्ञासा को प्रोत्साहित किया। इससे शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक जीवन में नए दृष्टिकोण विकसित हुए।

व्यापारिक नगरों, धनी व्यापारियों और शहरी अभिजात वर्ग ने पुनर्जागरण की गतिविधियों को संरक्षण दिया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सांस्कृतिक संरक्षण केवल सामंती भू-स्वामियों तक सीमित नहीं रहा।

फिर भी पुनर्जागरण को सामंतवाद के पतन का प्रत्यक्ष और अकेला कारण मानना उचित नहीं है। इसका प्रभाव मुख्यतः बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा, जबकि सामंती संबंधों में परिवर्तन के लिए आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रियाएँ भी आवश्यक थीं।

9.19 मानवतावाद और नए बौद्धिक दृष्टिकोण

पुनर्जागरण से जुड़े मानवतावादी विचारों ने मानव क्षमता, शिक्षा, नैतिकता और बौद्धिक स्वतंत्रता के प्रश्नों को नई दिशा दी। इससे यूरोप के कुछ शहरी और शिक्षित समूहों में सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को समझने के नए तरीके विकसित हुए।

मध्यकालीन समाज में परंपरा और धार्मिक अधिकार का महत्त्व बना रहा, लेकिन नए बौद्धिक दृष्टिकोणों ने ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में विविधता को बढ़ावा दिया। इससे शहरी संस्कृति और राजकीय प्रशासन में नए प्रकार के शिक्षित लोगों की भूमिका बढ़ सकती थी।

मानवतावाद ने सीधे सामंती संस्थाओं को समाप्त नहीं किया, लेकिन इसने उस व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन में योगदान दिया जिसके भीतर आधुनिक राज्य, नई शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता का विकास हुआ।

9.20 भौगोलिक खोजें और समुद्री व्यापार

पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में यूरोपीय समुद्री यात्राओं और भौगोलिक खोजों ने विश्व व्यापार की संरचना को बदलना शुरू किया। अटलांटिक व्यापार, नए समुद्री मार्गों और औपनिवेशिक विस्तार ने कुछ यूरोपीय राज्यों तथा व्यापारिक समूहों की आर्थिक शक्ति बढ़ाई।

व्यापार का विस्तार होने से समुद्री व्यापारियों, वित्तीय संस्थाओं और व्यापारिक कंपनियों का महत्त्व बढ़ा। धन तथा व्यापार से अर्जित संपत्ति आर्थिक शक्ति का एक प्रमुख स्रोत बनने लगी।

इससे भूमि पर आधारित सामंती संपत्ति के साथ-साथ व्यापारिक पूँजी का महत्त्व भी बढ़ा। कुछ क्षेत्रों में राजाओं ने विदेशी व्यापार और औपनिवेशिक गतिविधियों से प्राप्त संसाधनों का उपयोग अपनी सैन्य तथा प्रशासनिक शक्ति बढ़ाने में किया।

फिर भी भौगोलिक खोजें सामंतवाद के पतन की प्रारंभिक वजह नहीं थीं। वे मुख्यतः उस व्यापक परिवर्तन को गति देने वाली प्रक्रिया थीं, जिसमें व्यापारिक पूँजी, केंद्रीकृत राजसत्ता और विश्व बाजारों का विस्तार हुआ।

9.21 राष्ट्रीय भावना और आधुनिक राज्य का विकास

मध्यकालीन यूरोप में राजनीतिक निष्ठा अनेक बार स्थानीय प्रभुओं, राजवंशों, नगरों और धार्मिक संस्थाओं से जुड़ी होती थी। लेकिन समय के साथ कुछ क्षेत्रों में केंद्रीकृत प्रशासन, साझा कानून, राजकीय संस्थाओं और क्षेत्रीय राजनीतिक पहचान का विकास हुआ।

राजाओं ने अपने क्षेत्रों में अधिक नियमित कर-व्यवस्था, प्रशासनिक अधिकारियों और सैन्य संगठनों को विकसित किया। इससे स्थानीय सामंतों की स्वतंत्रता सीमित होने लगी।

आधुनिक राज्य का विकास एक लंबी प्रक्रिया थी। इसे केवल राष्ट्रीय भावना के उदय से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि राजस्व, युद्ध, प्रशासन, कानून और राजवंशीय राजनीति की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी।

फिर भी केंद्रीकृत राज्य की स्थापना ने सामंतवाद के राजनीतिक ढाँचे को चुनौती दी। जब राज्य ने न्याय, कर-संग्रह और सैन्य शक्ति पर अधिक नियंत्रण स्थापित किया, तो स्थानीय प्रभुओं की स्वतंत्र सत्ता का महत्त्व कम होने लगा।

9.22 सामंती विशेषाधिकारों के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन

सामंती व्यवस्था में अनेक अधिकार जन्म, वंश, भूमि और परंपरा पर आधारित थे। समय के साथ नगरों, व्यापार और शिक्षा के विस्तार से ऐसे समूहों का महत्त्व बढ़ा जिनकी आर्थिक स्थिति केवल भूमि पर निर्भर नहीं थी।

व्यापारी, कारीगर, साहूकार और प्रशासनिक अधिकारी नए सामाजिक समूहों के रूप में उभरे। इन समूहों ने आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में अधिक भागीदारी की संभावनाएँ प्राप्त कीं।

सामाजिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया में पुराने विशेषाधिकारों पर प्रश्न उठने लगे। हालांकि आधुनिक समानता और नागरिक अधिकारों की अवधारणाएँ बहुत बाद में विकसित हुईं, फिर भी मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में सामाजिक गतिशीलता ने पारंपरिक सामंती ढाँचे को प्रभावित किया।

इस प्रकार सामंतवाद का पतन केवल आर्थिक या सैन्य परिवर्तन नहीं था। यह समाज में शक्ति, प्रतिष्ठा और अधिकारों के वितरण में होने वाले व्यापक बदलावों से भी जुड़ा हुआ था।

10. सामंतवाद के पतन में व्यापारिक वर्ग और पूँजीवाद की भूमिका

सामंतवाद के पतन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू व्यापारिक वर्ग का उदय और पूँजीवादी संबंधों का क्रमिक विकास था। सामंती व्यवस्था में भूमि से प्राप्त आय आर्थिक शक्ति का प्रमुख आधार थी, जबकि विकसित होती व्यापारिक अर्थव्यवस्था में पूँजी, बाजार, ऋण और लाभ का महत्त्व बढ़ने लगा।

10.1 व्यापारिक वर्ग का उदय

व्यापार के विस्तार से यूरोप में ऐसे लोगों का वर्ग विकसित हुआ जिनकी संपत्ति भूमि के बजाय व्यापार, वित्त और शिल्प से प्राप्त होती थी। इस वर्ग को सामान्यतः बुर्जुआ वर्ग कहा जाता है, यद्यपि इसकी संरचना समय और क्षेत्र के अनुसार बदलती रही।

व्यापारियों और साहूकारों ने आर्थिक संसाधनों को संगठित करने, ऋण उपलब्ध कराने और बाजारों के विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कुछ व्यापारियों ने राजाओं को भी वित्तीय सहायता प्रदान की। इससे राजसत्ता को सामंतों से स्वतंत्र संसाधन जुटाने में सहायता मिली।

10.2 उत्पादन और श्रम संबंधों में परिवर्तन

व्यापारिक माँग बढ़ने से वस्तुओं का उत्पादन अधिक संगठित होने लगा। कुछ क्षेत्रों में घरेलू उद्योग, कारीगर उत्पादन और व्यापारी-नियंत्रित उत्पादन पद्धतियों का विस्तार हुआ।

इससे उत्पादन के नए संबंध विकसित हुए, जिनमें श्रम और पूँजी की भूमिका बढ़ती गई। हालांकि इन परिवर्तनों के बावजूद कृषि और सामंती भूमि संबंध लंबे समय तक बने रहे।

10.3 पूँजीवादी संबंधों का क्रमिक विकास

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन, निवेश, बाजार और लाभ का विशेष महत्व होता है। यूरोप में इन संबंधों का विकास मध्यकाल के उत्तरार्द्ध से प्रारंभ होकर प्रारंभिक आधुनिक काल में अधिक स्पष्ट हुआ।

सामंतवाद और पूँजीवाद के बीच परिवर्तन अचानक नहीं हुआ। कई क्षेत्रों में सामंती भू-स्वामी स्वयं व्यापारिक गतिविधियों में शामिल हुए, जबकि कुछ व्यापारियों ने भूमि खरीदी और स्थानीय अभिजात वर्ग का हिस्सा बन गए।

इसलिए सामंतवाद के पतन को पूँजीवाद की ओर एक सरल और सीधी यात्रा के रूप में नहीं देखना चाहिए। यह अनेक आर्थिक व्यवस्थाओं, सामाजिक समूहों और राजनीतिक संस्थाओं के बीच संघर्ष तथा समायोजन की प्रक्रिया थी।

11. सामंतवाद के पतन में राजनीतिक और प्रशासनिक परिवर्तनों की भूमिका

राजनीतिक तथा प्रशासनिक परिवर्तन सामंतवाद के क्षरण का प्रमुख आधार बने। केंद्रीकृत राज्य के विकास से राजा को राजस्व, न्याय और सेना पर अधिक नियंत्रण प्राप्त हुआ। इससे स्थानीय प्रभुओं के पारंपरिक अधिकारों का दायरा सीमित हो सकता था।

11.1 नियमित कर-व्यवस्था

राजाओं को स्थायी सेना, प्रशासन और युद्धों के लिए नियमित आय की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में कर-संग्रह की व्यवस्था को अधिक संगठित करने का प्रयास किया।

नियमित राजस्व से राजाओं को सामंतों पर निर्भरता कम करने का अवसर मिला। इससे केंद्रीय प्रशासन की क्षमता बढ़ी और राजनीतिक शक्ति का पुनर्वितरण हुआ।

11.2 राजकीय अधिकारियों का विस्तार

राजकीय प्रशासन के विस्तार से स्थानीय सामंतों के स्थान पर नियुक्त अधिकारियों की भूमिका बढ़ सकती थी। ये अधिकारी कर-संग्रह, न्याय, भूमि संबंधी अभिलेख और प्रशासनिक कार्यों को संचालित करते थे।

इससे प्रशासनिक निर्णयों पर केंद्रीय शासन का प्रभाव बढ़ा। हालाँकि अनेक क्षेत्रों में स्थानीय अभिजात वर्ग ने प्रशासन में अपनी भूमिका बनाए रखी और राज्य के साथ सहयोग भी किया।

11.3 न्यायिक अधिकारों का केंद्रीकरण

राजाओं ने कई क्षेत्रों में न्यायिक अधिकारों को अपने नियंत्रण में लाने का प्रयास किया। राजकीय न्यायालयों और लिखित नियमों के विस्तार से सामंतों की स्वतंत्र न्यायिक शक्ति सीमित हो सकती थी।

इस परिवर्तन से प्रशासनिक एकरूपता बढ़ाने और राजकीय सत्ता को मजबूत करने में सहायता मिली। फिर भी स्थानीय कानून, प्रथाएँ और सामंती विशेषाधिकार अनेक क्षेत्रों में लंबे समय तक बने रहे।

11.4 राजवंशीय युद्ध और राज्य निर्माण

यूरोप में विभिन्न राजवंशों के बीच हुए युद्धों ने राजनीतिक मानचित्र को बदल दिया। कुछ सामंत शक्तिशाली राजाओं के अधीन आए, जबकि कुछ के क्षेत्र केंद्रीय राज्यों में सम्मिलित कर लिए गए।

दीर्घकालीन युद्धों ने राज्य निर्माण की प्रक्रिया को तेज किया। युद्धों के लिए अधिक राजस्व, नियमित सेना और संगठित प्रशासन की आवश्यकता ने केंद्रीकरण को प्रोत्साहित किया।

इस प्रकार राजनीतिक तथा प्रशासनिक परिवर्तन सामंतवाद के पतन के केवल परिणाम नहीं थे, बल्कि उसकी शक्ति को कमजोर करने वाले सक्रिय कारण भी थे।

12. सामंतवाद के पतन में सामाजिक और वैचारिक परिवर्तन

सामंतवाद का पतन सामाजिक संरचना और विचारों में आए परिवर्तनों से भी जुड़ा था। जैसे-जैसे नगरों, व्यापार, शिक्षा और राजकीय संस्थाओं का विकास हुआ, वैसे-वैसे समाज में नए वर्गों और नई आकांक्षाओं का उदय हुआ।

12.1 सामाजिक गतिशीलता

सामंती समाज में सामाजिक स्थिति का निर्धारण प्रायः जन्म, भूमि और वंश से होता था। लेकिन व्यापार, शिल्प, राजकीय सेवा और शिक्षा के विस्तार से कुछ व्यक्तियों को सामाजिक उन्नति के नए अवसर प्राप्त हुए।

इससे सामाजिक प्रतिष्ठा के पारंपरिक आधारों में परिवर्तन आया। आर्थिक सफलता और प्रशासनिक पद भी सामाजिक प्रभाव के स्रोत बनने लगे।

12.2 शिक्षा का विस्तार

मध्यकालीन यूरोप में विश्वविद्यालयों और शैक्षिक संस्थाओं के विकास ने शिक्षित व्यक्तियों के नए समूह तैयार किए। कानून, प्रशासन, चिकित्सा, धर्मशास्त्र और अन्य विषयों के अध्ययन ने समाज में विद्वानों और प्रशिक्षित अधिकारियों की भूमिका बढ़ाई।

राजकीय प्रशासन को ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो अभिलेख, कर-व्यवस्था और न्यायिक कार्यों का संचालन कर सकें। इससे स्थानीय सामंतों के पारंपरिक प्रशासनिक अधिकारों के समानांतर नई संस्थाओं का विकास हुआ।

12.3 विचारों में परिवर्तन

सामंतवाद के पतन को किसी एक वैचारिक आंदोलन से नहीं जोड़ा जा सकता। फिर भी पुनर्जागरण, मानवतावाद, धार्मिक सुधार और बाद में विकसित राजनीतिक विचारों ने यूरोपीय समाज की मानसिकता को प्रभावित किया।

इन परिवर्तनों ने ज्ञान, सत्ता, धार्मिक अधिकार और सामाजिक संगठन के बारे में नए प्रश्न उठाए। आधुनिक नागरिकता, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और समानता के विचार बाद के काल में अधिक स्पष्ट हुए।

इस प्रकार बौद्धिक और सांस्कृतिक परिवर्तन ने सामंतवाद के पतन की व्यापक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार करने में योगदान दिया।

13. भारत में सामंती संबंधों के परिवर्तन और पतन के कारण

भारत में सामंती संबंधों के परिवर्तन का इतिहास यूरोप से अलग था। भारतीय समाज में भूमि-अनुदान, क्षेत्रीय शासक, स्थानीय भू-स्वामी, राजस्व-संग्रहकर्ता और कृषकों के बीच संबंध विभिन्न कालखंडों में विकसित हुए। इन संबंधों का स्वरूप उत्तर भारत, दक्षिण भारत, पूर्वी भारत, पश्चिमी भारत और दक्कन में एक जैसा नहीं था।

भारत में सामंती संबंधों के क्षरण को समझने के लिए प्राचीन सामंतों और प्रारंभिक मध्यकालीन अधीनस्थ शासकों की स्थिति के साथ-साथ दिल्ली सल्तनत, मुगल साम्राज्य, क्षेत्रीय राज्यों तथा औपनिवेशिक शासन की भूमि और राजस्व संबंधी नीतियों का अध्ययन करना आवश्यक है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मध्यकालीन भारत में स्थानीय भू-स्वामियों की शक्ति का कमजोर होना और आधुनिक अर्थ में सामंतवाद का अंत दो अलग-अलग प्रक्रियाएँ हो सकती हैं।

13.1 प्रारंभिक मध्यकालीन राज्यों का पुनर्गठन

प्रारंभिक मध्यकाल में भारत के अनेक क्षेत्रों में क्षेत्रीय राज्यों का उदय हुआ। इन राज्यों में शासकों, सामंतों और स्थानीय शक्तियों के बीच संबंध राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते थे।

कुछ सामंत अपने अधिपति के प्रति निष्ठा रखते थे, लेकिन समय आने पर वे स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयास भी करते थे। जब किसी शक्तिशाली राजवंश का पतन होता था, तो उसके अधीनस्थ शासक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर सकते थे।

इस प्रक्रिया ने राजनीतिक सत्ता के निरंतर पुनर्गठन को जन्म दिया। परिणामस्वरूप सामंती संबंधों का स्वरूप एक स्थिर व्यवस्था के बजाय बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होता रहा।

13.2 दिल्ली सल्तनत की स्थापना और राजनीतिक परिवर्तन

तेरहवीं शताब्दी में दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने उत्तर भारत के राजनीतिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। सल्तनत के शासकों ने अपने नियंत्रण वाले क्षेत्रों में राजस्व-संग्रह, सैन्य संगठन और प्रशासनिक व्यवस्था को विकसित करने का प्रयास किया।

सल्तनत के अंतर्गत इक्ता व्यवस्था का विशेष महत्त्व था। इक्ता के माध्यम से अधिकारियों को निर्धारित क्षेत्रों से राजस्व प्राप्त करने और प्रशासनिक या सैन्य दायित्व निभाने की व्यवस्था की जाती थी। इक्तादारों की स्थिति और अधिकार समय, क्षेत्र तथा शासक की नीतियों के अनुसार बदलते थे।

इक्ता व्यवस्था को यूरोपीय सामंती जागीर व्यवस्था के समान मानना उचित नहीं है। दोनों में भूमि या राजस्व से प्राप्त आय का संबंध राजनीतिक और सैन्य दायित्वों से हो सकता था, लेकिन उनके कानूनी आधार, प्रशासनिक संरचना और ऐतिहासिक विकास में महत्त्वपूर्ण अंतर थे।

सल्तनत के शासकों ने स्थानीय शक्तियों को कभी पराजित किया, कभी अपने प्रशासन में सम्मिलित किया और कभी उनसे समझौते किए। इस प्रक्रिया ने उत्तर भारत में राजनीतिक अधिकारों के पुनर्वितरण को प्रभावित किया।

13.3 मुगल साम्राज्य और मनसबदारी व्यवस्था

मुगल साम्राज्य के अंतर्गत मनसबदारी और जागीरदारी व्यवस्थाओं ने प्रशासनिक तथा सैन्य संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मनसबदारों को उनकी पदस्थिति के अनुसार प्रशासनिक और सैन्य दायित्व दिए जाते थे। अनेक मनसबदारों को वेतन के बदले किसी क्षेत्र के राजस्व से आय प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता था।

मुगल जागीर सामान्यतः राजस्व प्राप्त करने का अधिकार थी; उसे हर स्थिति में भूमि का निजी स्वामित्व नहीं माना जा सकता। जागीरदारों के अधिकार और दायित्व राजकीय प्रशासन तथा शाही आदेशों से निर्धारित होते थे।

मुगल व्यवस्था में जागीरों का स्थानांतरण और अधिकारियों पर शाही नियंत्रण बनाए रखने के प्रयास केंद्रीय सत्ता के महत्त्व को दर्शाते हैं। हालांकि व्यवहार में स्थानीय शक्तियों, जमींदारों और क्षेत्रीय परिस्थितियों का प्रभाव भी बना रहता था।

इस प्रकार मुगल प्रशासन ने अनेक क्षेत्रों में राजस्व और सैन्य दायित्वों को संगठित किया। इसे यूरोपीय सामंतवाद की हूबहू प्रतिकृति नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसने भारत में भूमि, राजस्व और राजनीतिक अधिकारों के संबंधों को गहराई से प्रभावित किया।

13.4 मुगल साम्राज्य का विघटन और क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की केंद्रीय शक्ति कमजोर होने लगी। इस दौरान मराठों, सिखों, जाटों, अवध, बंगाल, हैदराबाद और अन्य क्षेत्रीय शक्तियों का प्रभाव बढ़ा। विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय भू-स्वामियों तथा राजस्व-संग्रहकर्ताओं की भूमिका भी बदलती रही।

केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने से कुछ स्थानीय शक्तियों को अधिक स्वतंत्रता मिली। कई क्षेत्रों में नए राजनीतिक संगठन विकसित हुए, जबकि अन्य क्षेत्रों में पुराने अभिजात वर्ग ने अपनी स्थिति बनाए रखी।

इसलिए मुगल साम्राज्य के पतन को भारतीय सामंतवाद का अंत नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इस अवधि में भूमि और राजस्व पर नियंत्रण रखने वाले अनेक स्थानीय समूह शक्तिशाली बने रहे। बाद में औपनिवेशिक शासन ने इन संबंधों को अपने प्रशासनिक तथा आर्थिक हितों के अनुसार पुनर्गठित किया।

13.5 औपनिवेशिक शासन की स्थापना

अठारहवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी की राजनीतिक शक्ति बढ़ने के साथ भारतीय भूमि और राजस्व व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन शुरू हुए। कंपनी ने राजस्व प्राप्ति को अपने शासन की आर्थिक नींव बनाया।

औपनिवेशिक सरकार ने विभिन्न क्षेत्रों में भूमि-राजस्व वसूलने की अलग-अलग व्यवस्थाएँ लागू कीं। इन व्यवस्थाओं का उद्देश्य राजस्व को अधिक नियमित और प्रशासनिक रूप से नियंत्रित करना था। लेकिन इनका प्रभाव कृषकों, भू-स्वामियों और स्थानीय समाज पर व्यापक पड़ा।

औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत भूमि संबंधों को नए कानूनी तथा प्रशासनिक रूपों में परिभाषित किया गया। कुछ पारंपरिक अधिकारों को मान्यता मिली, कुछ का पुनर्गठन हुआ और कुछ स्थानीय संस्थाओं की शक्ति कम हुई। इससे ग्रामीण समाज में नए प्रकार की असमानताएँ और निर्भरताएँ भी विकसित हुईं।

13.6 स्थायी बंदोबस्त

1793 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के कुछ क्षेत्रों में लागू स्थायी बंदोबस्त औपनिवेशिक भूमि-राजस्व व्यवस्था का महत्वपूर्ण उदाहरण था। इस व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारों से सरकार को दिए जाने वाले भू-राजस्व की राशि स्थायी रूप से निर्धारित की गई।

इस व्यवस्था में जमींदारों को राजस्व-संग्रह के महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हुए, लेकिन निर्धारित राजस्व का भुगतान न कर पाने पर उनकी संपत्ति नीलाम भी की जा सकती थी। इससे भूमि, राजस्व और संपत्ति के अधिकारों का नया ढाँचा विकसित हुआ।

स्थायी बंदोबस्त ने पारंपरिक ग्रामीण संबंधों को कई क्षेत्रों में प्रभावित किया। कुछ जमींदार शक्तिशाली भू-स्वामी के रूप में उभरे, जबकि कुछ अपनी संपत्ति खो बैठे। किसानों पर लगान का दबाव बना रह सकता था और उनके अधिकारों की स्थिति स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग रही।

इस व्यवस्था को सामंतवाद के पूर्ण अंत के रूप में नहीं देखा जा सकता। बल्कि इसने कुछ पुराने भू-स्वामित्व संबंधों को नए औपनिवेशिक कानूनों और बाजार की परिस्थितियों के साथ जोड़ दिया।

13.7 रैयतवाड़ी व्यवस्था

रैयतवाड़ी व्यवस्था मुख्यतः मद्रास और बंबई प्रेसिडेंसी के अनेक क्षेत्रों में विकसित हुई। इसमें सरकार ने अपेक्षाकृत सीधे कृषक या रैयत से भू-राजस्व निर्धारित करने और प्राप्त करने का प्रयास किया।

इस व्यवस्था में जमींदार जैसे मध्यस्थों की भूमिका कुछ क्षेत्रों में कम की गई, लेकिन इससे किसानों पर राजस्व का दबाव समाप्त नहीं हुआ। कृषकों को भूमि पर खेती करने के लिए राजस्व का भुगतान करना पड़ता था और कई परिस्थितियों में ऋणग्रस्तता तथा आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता था।

रैयतवाड़ी व्यवस्था ने राजस्व-संग्रह में राज्य की प्रत्यक्ष भूमिका बढ़ाई। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि ग्रामीण समाज में सभी प्रकार के स्थानीय प्रभुत्व समाप्त हो गए। अनेक क्षेत्रों में बड़े कृषक, साहूकार और स्थानीय प्रभावशाली समूह ग्रामीण जीवन को प्रभावित करते रहे।

13.8 महालवाड़ी व्यवस्था

महालवाड़ी व्यवस्था उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक क्षेत्रों में विकसित हुई। इसमें राजस्व निर्धारण के लिए गाँव अथवा महाल को एक महत्त्वपूर्ण इकाई माना गया। राजस्व की जिम्मेदारी स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार गाँव के समुदाय, प्रमुखों या संबंधित भू-धारकों पर डाली जा सकती थी।

इस व्यवस्था ने ग्रामीण समुदायों और स्थानीय अभिजात वर्ग की भूमिका को बनाए रखा, लेकिन उन्हें औपनिवेशिक राजस्व प्रशासन के अंतर्गत संगठित किया गया।

इससे स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन ने भारत के सभी क्षेत्रों में एक जैसी भूमि-राजस्व व्यवस्था लागू नहीं की। विभिन्न क्षेत्रों में अलग प्रणालियों के माध्यम से राजस्व प्राप्त किया गया, जिनके परिणाम भी अलग-अलग थे।

13.9 भूमि के अधिकारों का कानूनी पुनर्गठन

औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत भूमि और राजस्व से संबंधित अधिकारों को नए कानूनों, अभिलेखों और न्यायिक प्रक्रियाओं के माध्यम से परिभाषित किया गया। इससे भूमि विवादों, लगान, उत्तराधिकार और संपत्ति के अधिकारों से जुड़े मामलों में परिवर्तन आया।

कुछ क्षेत्रों में भूमि के अधिकार अधिक स्पष्ट रूप से दर्ज किए गए, लेकिन इस प्रक्रिया से पारंपरिक सामुदायिक अधिकारों और स्थानीय प्रथाओं को नुकसान भी पहुँचा। जिन समूहों के पास कानूनी दस्तावेज या न्यायालय तक पहुँच नहीं थी, उन्हें अपनी भूमि और संसाधनों की रक्षा करने में कठिनाई हो सकती थी।

इस प्रकार औपनिवेशिक कानूनों ने ग्रामीण समाज में पुराने अधिकार-संबंधों को पूरी तरह समाप्त करने के बजाय कई बार उन्हें नए रूप में स्थापित किया।

13.10 कृषि का वाणिज्यीकरण

औपनिवेशिक काल में अनेक क्षेत्रों में कृषि उत्पादन का संबंध बाजार और अंतरराष्ट्रीय व्यापार से अधिक गहराई से जुड़ने लगा। कपास, नील, जूट, अफीम और अन्य नकदी फसलों के उत्पादन को विभिन्न क्षेत्रों में प्रोत्साहन मिला।

कृषि के वाणिज्यीकरण से किसानों को बाजार की कीमतों, ऋण और व्यापारिक माँग पर अधिक निर्भर होना पड़ा। कुछ कृषकों को नए अवसर प्राप्त हुए, जबकि अन्य को ऋणग्रस्तता और आर्थिक असुरक्षा का सामना करना पड़ा।

इस परिवर्तन ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पारंपरिक स्वरूप को प्रभावित किया। फिर भी कृषि का वाणिज्यीकरण अपने आप में सामंतवाद का अंत नहीं था, क्योंकि बाजार आधारित उत्पादन के साथ पुराने भू-स्वामी और कृषक संबंध भी बने रह सकते थे।

13.11 रेलवे, संचार और बाजारों का विस्तार

उन्नीसवीं शताब्दी में रेलवे, सड़कों, डाक और तार जैसी संचार सुविधाओं के विस्तार ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों को बड़े बाजारों से जोड़ना शुरू किया। इससे कृषि उत्पादों, कच्चे माल और औद्योगिक वस्तुओं का परिवहन अधिक व्यापक स्तर पर होने लगा।

बाजारों के विस्तार से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में नकद लेन-देन और व्यावसायिक संबंधों का महत्त्व बढ़ा। किसानों, व्यापारियों, साहूकारों और भू-स्वामियों के बीच नए प्रकार के आर्थिक संबंध विकसित हुए।

इन परिवर्तनों ने पारंपरिक ग्रामीण आत्मनिर्भरता को प्रभावित किया, लेकिन सामंती या अर्ध-सामंती संबंध अनेक क्षेत्रों में बने रहे। इसलिए आधुनिक परिवहन और बाजार के विकास को सामंती संरचनाओं के परिवर्तन का एक कारण माना जा सकता है, न कि उनके तत्काल अंत का प्रमाण।

13.12 आधुनिक शिक्षा और नए सामाजिक विचार

औपनिवेशिक काल में आधुनिक शिक्षा, मुद्रण, समाचार-पत्रों और सार्वजनिक बहसों के विस्तार से समाज में नए विचारों का प्रसार हुआ। स्वतंत्रता, अधिकार, सामाजिक समानता, प्रतिनिधित्व और सुधार से संबंधित विचारों ने विभिन्न सामाजिक समूहों को प्रभावित किया।

सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलनों और राष्ट्रीय आंदोलन ने पारंपरिक सामाजिक असमानताओं पर प्रश्न उठाए। किसानों और मजदूरों के आंदोलनों ने भूमि, लगान, ऋण तथा श्रम संबंधों को राजनीतिक बहस का विषय बनाया।

इन परिवर्तनों ने पुराने सामाजिक विशेषाधिकारों की वैधता को चुनौती दी। हालांकि सामाजिक असमानताओं का अंत नहीं हुआ, फिर भी आधुनिक राजनीतिक चेतना ने ग्रामीण शक्ति-संबंधों में परिवर्तन की परिस्थितियाँ तैयार कीं।

13.13 किसान आंदोलनों की भूमिका

औपनिवेशिक भारत में किसानों ने लगान, बेदखली, ऋण, बेगार और अन्य शोषणकारी परिस्थितियों के विरुद्ध अनेक आंदोलन किए। विभिन्न क्षेत्रों में इन आंदोलनों के कारण और स्वरूप अलग-अलग थे।

किसान आंदोलनों ने स्थानीय भू-स्वामियों, साहूकारों और औपनिवेशिक प्रशासन की नीतियों को चुनौती दी। कुछ आंदोलनों ने लगान में कमी, बेदखली से सुरक्षा और बेहतर आर्थिक अधिकारों की माँग की।

इन आंदोलनों का प्रभाव क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग रहा, लेकिन उन्होंने भूमि संबंधों को सार्वजनिक और राजनीतिक प्रश्न बनाया। इससे ग्रामीण समाज में पुराने प्रभुत्व को चुनौती देने की प्रक्रिया को बल मिला।

13.14 स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय गणराज्य ने ग्रामीण असमानता को कम करने और कृषि संबंधों में परिवर्तन लाने के लिए विभिन्न भूमि सुधार कार्यक्रम अपनाए। जमींदारी उन्मूलन, बिचौलियों की समाप्ति, भू-सीमा कानून और कुछ क्षेत्रों में बटाईदारों के अधिकारों की सुरक्षा इस प्रक्रिया के प्रमुख अंग थे।

जमींदारी उन्मूलन के माध्यम से अनेक राज्यों में राज्य और कृषकों के बीच मध्यस्थ भू-स्वामियों की भूमिका को समाप्त या सीमित करने का प्रयास किया गया। हालांकि कानूनों का क्रियान्वयन विभिन्न राज्यों में अलग-अलग रहा।

कुछ क्षेत्रों में भूमि सुधारों से कृषकों को अधिकार प्राप्त हुए, जबकि अन्य क्षेत्रों में कानूनी कमियों, प्रशासनिक कठिनाइयों और स्थानीय शक्तिशाली समूहों के प्रभाव के कारण परिणाम सीमित रहे।

स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधारों ने पारंपरिक जमींदारी संरचनाओं को कमजोर करने में योगदान दिया, लेकिन इससे ग्रामीण असमानता पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। भूमि का असमान वितरण, भूमिहीनता, जाति आधारित भेदभाव और आर्थिक निर्भरता अनेक क्षेत्रों में बनी रही।

13.15 भारतीय सामंतवाद के पतन के संबंध में सावधानी

भारतीय सामंतवाद के पतन का विश्लेषण करते समय यह समझना आवश्यक है कि भारत में यूरोप की तरह एक समान सामंती व्यवस्था और उसका एक निश्चित अंत नहीं था। यहाँ भूमि-अनुदान, राजस्व-संग्रह, स्थानीय भू-स्वामित्व, राजनीतिक अधीनता और कृषकों पर नियंत्रण के विविध रूप मौजूद थे।

दिल्ली सल्तनत और मुगल साम्राज्य ने अनेक क्षेत्रों में स्थानीय शक्तियों को अपने प्रशासन में शामिल किया, जबकि औपनिवेशिक शासन ने भूमि और राजस्व संबंधों को नए कानूनी ढाँचे में पुनर्गठित किया। स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधारों ने जमींदारी जैसी संस्थाओं को कमजोर किया।

इसलिए भारतीय संदर्भ में सामंती संबंधों के पतन को कई ऐतिहासिक चरणों में समझना अधिक उपयुक्त है। इसमें मध्यकालीन राज्य निर्माण, औपनिवेशिक राजस्व नीतियों, आधुनिक बाजारों, किसान आंदोलनों, राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता के बाद के भूमि सुधारों की अलग-अलग भूमिका रही।

14. यूरोपीय और भारतीय सामंतवाद की तुलनात्मक समीक्षा

यूरोपीय और भारतीय सामंतवाद की तुलना से स्पष्ट होता है कि दोनों समाजों में भूमि, कृषि अधिशेष और स्थानीय शक्ति का महत्त्व था, लेकिन उनके ऐतिहासिक विकास, संस्थागत संरचना और राजनीतिक संबंधों में पर्याप्त अंतर था।

14.1 भूमि और आर्थिक शक्ति

यूरोप में सामंती व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण आधार भूमि पर अधिकार तथा उसके बदले सैन्य सेवा देने की परंपरा थी। अनेक क्षेत्रों में भूमि पर नियंत्रण रखने वाले प्रभु कृषकों से लगान और श्रम प्राप्त करते थे।

भारत में भी भूमि-अनुदान, राजस्व अधिकार और स्थानीय भू-स्वामित्व आर्थिक शक्ति के महत्त्वपूर्ण स्रोत थे। लेकिन भूमि के अधिकारों और राजस्व-संग्रह की संस्थाएँ विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग थीं। सभी भूमि-अनुदान निजी स्वामित्व या सामंती जागीर के समान नहीं थे।

14.2 राजनीतिक संबंध

यूरोपीय सामंतवाद में प्रभु और अधीनस्थ के व्यक्तिगत संबंध, निष्ठा तथा सैन्य सेवा का विशेष महत्त्व था। कई क्षेत्रों में स्थानीय सामंतों को पर्याप्त राजनीतिक और न्यायिक अधिकार प्राप्त थे।

भारत में भी अधीनस्थ शासकों, सामंतों और राजाओं के बीच निष्ठा तथा सैन्य सहयोग के संबंध विकसित हुए। लेकिन भारतीय राजनीतिक संरचनाओं में राजस्व प्रशासन, क्षेत्रीय परंपराओं और शाही अधिकारियों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण थी।

14.3 कृषकों की स्थिति

यूरोप के अनेक क्षेत्रों में कृषिदासता सामंती ग्रामीण व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता थी। कृषिदासों पर भूमि से जुड़े दायित्व लागू होते थे, हालांकि सभी किसान कृषिदास नहीं थे।

भारत में कृषकों की स्थिति जाति, भूमि अधिकार, क्षेत्रीय कानून, लगान और स्थानीय सामाजिक संरचना के अनुसार अलग-अलग थी। कुछ क्षेत्रों में किसानों पर कठोर नियंत्रण था, लेकिन भारतीय कृषक व्यवस्था को यूरोपीय कृषिदासता के समान मानना उचित नहीं है।

14.4 धार्मिक संस्थाओं की भूमिका

यूरोप में चर्च एक व्यापक धार्मिक संस्था के रूप में भूमि, शिक्षा और राजनीति में प्रभावशाली था। भारत में मंदिरों, मठों और अन्य धार्मिक संस्थाओं ने अनेक क्षेत्रों में आर्थिक तथा सांस्कृतिक भूमिका निभाई।

दोनों समाजों में धार्मिक संस्थाओं को दान और भूमि-अनुदान प्राप्त हो सकते थे। लेकिन उनकी संगठनात्मक संरचना, राजनीतिक अधिकार और सामाजिक भूमिका में महत्त्वपूर्ण अंतर थे।

14.5 पतन की प्रक्रिया

यूरोप में सामंतवाद के पतन में नगरों, व्यापार, महामारी, कृषक विद्रोह, केंद्रीकृत राजतंत्र और सैन्य तकनीक के परिवर्तन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारत में सामंती संबंधों के परिवर्तन पर क्षेत्रीय राज्य निर्माण, सल्तनत और मुगल प्रशासन, औपनिवेशिक भूमि-राजस्व व्यवस्थाओं, बाजार के विस्तार, किसान आंदोलनों और स्वतंत्रता के बाद के भूमि सुधारों का प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार दोनों क्षेत्रों में भूमि आधारित शक्ति-संबंधों के परिवर्तन की प्रक्रिया अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों से प्रभावित हुई।

15. सामंतवाद के पतन के प्रमुख परिणाम

सामंतवाद के पतन से राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने आधुनिक राज्य और आधुनिक अर्थव्यवस्था के विकास की परिस्थितियाँ तैयार कीं। हालांकि इनके परिणाम सभी क्षेत्रों और सामाजिक वर्गों के लिए समान नहीं थे।

15.1 केंद्रीय राजसत्ता का सुदृढ़ीकरण

सामंती शक्ति के कमजोर होने से अनेक क्षेत्रों में राजाओं को अधिक केंद्रीकृत शासन स्थापित करने का अवसर मिला। राजस्व, न्याय, प्रशासन और सेना पर केंद्रीय नियंत्रण बढ़ने लगा।

इससे राज्य की राजनीतिक एकता मजबूत हो सकती थी। हालांकि केंद्रीकृत राजतंत्र कई बार निरंकुश भी था और उसने जनता पर करों का दबाव बढ़ाया। इसलिए केंद्रीय सत्ता का विकास अपने आप में लोकतांत्रिक शासन की स्थापना नहीं था।

15.2 आधुनिक राज्य के विकास की पृष्ठभूमि

केंद्रीकृत प्रशासन, नियमित कर-व्यवस्था, राजकीय न्यायालय और संगठित सेना के विकास ने आधुनिक राज्य के निर्माण के लिए आधार तैयार किया। बाद के काल में प्रतिनिधि संस्थाओं, नागरिक अधिकारों और संवैधानिक शासन का विकास हुआ।

आधुनिक राज्य का निर्माण एक लंबी प्रक्रिया थी, जिसमें सामंती व्यवस्था के पतन के साथ-साथ व्यापार, युद्ध, प्रशासन और राजनीतिक विचारों ने योगदान दिया।

15.3 नगरों और व्यापार का विस्तार

सामंती नियंत्रण में कमी और व्यापार के विस्तार से अनेक नगरों की आर्थिक तथा सामाजिक भूमिका बढ़ी। नगर उत्पादन, विनिमय, शिक्षा और सांस्कृतिक गतिविधियों के महत्त्वपूर्ण केंद्र बने।

व्यापारियों और कारीगरों के विकास ने आर्थिक शक्ति के नए स्रोत उत्पन्न किए। इससे भूमि पर आधारित पारंपरिक अभिजात वर्ग के साथ नए सामाजिक समूह भी प्रभावशाली हुए।

15.4 कृषकों की स्थिति में परिवर्तन

यूरोप के कुछ क्षेत्रों में सामंती श्रम दायित्वों में कमी आई और किसानों की स्वतंत्रता बढ़ी। श्रम की कमी तथा बाजार के विकास से कुछ कृषकों को बेहतर आर्थिक अवसर प्राप्त हुए।

हालाँकि सभी किसानों की स्थिति में सुधार नहीं हुआ। कुछ क्षेत्रों में भूमि पर बड़े भू-स्वामियों का नियंत्रण बना रहा और किसानों को नए प्रकार के आर्थिक दबावों का सामना करना पड़ा। इसलिए सामंतवाद के पतन से कृषकों की मुक्ति एक समान या तत्काल प्रक्रिया नहीं थी।

15.5 सामाजिक वर्गों में परिवर्तन

व्यापार, शिल्प, वित्त और प्रशासन के विकास से नए सामाजिक समूहों का महत्त्व बढ़ा। आर्थिक सफलता और व्यावसायिक गतिविधियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा के नए स्रोत बने।

इससे सामाजिक गतिशीलता की संभावनाएँ बढ़ीं, हालांकि जन्म, संपत्ति और राजनीतिक प्रभाव पर आधारित असमानताएँ बनी रहीं। आधुनिक समाज में वर्ग संरचना का विकास सामंती समाज की तुलना में अधिक जटिल आर्थिक संबंधों से जुड़ने लगा।

15.6 पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास

सामंतवाद के पतन की प्रक्रिया के साथ बाजार, व्यापार, पूँजी निवेश और वेतनभोगी श्रम के संबंधों का विस्तार हुआ। यूरोप के कुछ क्षेत्रों में इन परिवर्तनों ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास को प्रोत्साहित किया।

लेकिन पूँजीवाद का विकास केवल सामंतवाद के कमजोर होने से नहीं हुआ। समुद्री व्यापार, औपनिवेशिक विस्तार, वित्तीय संस्थाओं, तकनीकी परिवर्तन और औद्योगिक क्रांति ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

15.7 प्रशासनिक और न्यायिक एकरूपता

केंद्रीय राजसत्ता के विस्तार से अनेक क्षेत्रों में प्रशासनिक प्रक्रियाओं और न्यायिक संस्थाओं को अधिक संगठित करने के प्रयास हुए। स्थानीय सामंतों की स्वतंत्र न्यायिक शक्ति पर नियंत्रण बढ़ा।

बाद में लिखित कानूनों, प्रशासनिक अभिलेखों और आधुनिक न्यायिक संस्थाओं का विकास हुआ। फिर भी विभिन्न देशों में इन परिवर्तनों का स्वरूप अलग-अलग था।

15.8 धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन

मध्यकाल के उत्तरार्द्ध और प्रारंभिक आधुनिक काल में यूरोप में पुनर्जागरण, धर्म-सुधार और वैज्ञानिक चिंतन के विकास ने सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया। धार्मिक संस्थाओं की भूमिका में परिवर्तन आया और शिक्षा के नए केंद्र विकसित हुए।

इन परिवर्तनों ने आधुनिक बौद्धिक जीवन के विकास में योगदान दिया, लेकिन धार्मिक विश्वासों और संस्थाओं का प्रभाव समाप्त नहीं हुआ। कई धार्मिक संस्थाएँ आधुनिक काल में भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनी रहीं।

15.9 ग्रामीण अर्थव्यवस्था का बाजार से जुड़ाव

सामंतवाद के पतन की प्रक्रिया में ग्रामीण उत्पादन का बाजार से संबंध कई क्षेत्रों में मजबूत हुआ। कृषि उपज की बिक्री, नकद लगान और ऋण के विस्तार से ग्रामीण अर्थव्यवस्था अधिक व्यापक व्यापारिक तंत्र का हिस्सा बनने लगी।

इससे किसानों के लिए नए अवसर उत्पन्न हुए, लेकिन बाजार की अनिश्चितता और ऋणग्रस्तता का जोखिम भी बढ़ा। ग्रामीण समाज में आर्थिक निर्भरता के पुराने रूप कई बार नए रूपों में बने रहे।

15.10 भारत में भूमि संबंधों पर दीर्घकालीन प्रभाव

भारत में सामंती संबंधों के परिवर्तन ने भूमि-अधिकारों, राजस्व-संग्रह और ग्रामीण सत्ता की संरचना को प्रभावित किया। औपनिवेशिक भूमि-राजस्व नीतियों ने कई क्षेत्रों में नए भू-स्वामियों और मध्यस्थों को शक्तिशाली बनाया, जबकि स्वतंत्रता के बाद जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधारों ने कुछ पारंपरिक संस्थाओं को कमजोर किया।

इन परिवर्तनों के बावजूद भूमि का असमान वितरण, भूमिहीनता और ग्रामीण आर्थिक असमानता अनेक क्षेत्रों में बनी रही। इसलिए सामंती संबंधों के क्षरण को सामाजिक न्याय की पूर्ण स्थापना के समान नहीं माना जा सकता।

16. सामंतवाद के पतन के कारणों का समग्र विश्लेषण

सामंतवाद के पतन का समग्र विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि यह किसी एक राजनीतिक घटना, युद्ध या आर्थिक संकट का परिणाम नहीं था। इसके पीछे अनेक प्रक्रियाएँ लंबे समय तक एक-दूसरे को प्रभावित करती रहीं। यूरोप में भूमि पर आधारित आर्थिक शक्ति, स्थानीय सामंतों की राजनीतिक स्वतंत्रता, कृषकों पर नियंत्रण और सैन्य सेवा से जुड़े संबंध धीरे-धीरे परिवर्तित हुए। इन परिवर्तनों ने मध्यकालीन व्यवस्था के स्थान पर नई राजनीतिक तथा आर्थिक संस्थाओं के विकास की परिस्थितियाँ तैयार कीं।

16.1 आर्थिक कारणों का महत्त्व

आर्थिक परिवर्तन सामंतवाद के पतन का प्रमुख आधार थे। व्यापार-वाणिज्य के विस्तार, नगरों के विकास, मुद्रा के बढ़ते प्रयोग और बाजार आधारित उत्पादन ने भूमि पर आधारित पारंपरिक अर्थव्यवस्था को चुनौती दी। व्यापारियों, साहूकारों और कारीगरों की भूमिका बढ़ने से आर्थिक शक्ति के नए स्रोत विकसित हुए।

इन परिवर्तनों के कारण सामंतों का आर्थिक प्रभुत्व कई क्षेत्रों में कमजोर हुआ। हालांकि सामंतवाद और बाजार अर्थव्यवस्था के बीच संबंध हमेशा विरोधपूर्ण नहीं थे। अनेक सामंत बाजारों से लाभ प्राप्त करते रहे

और कुछ ने अपनी आर्थिक गतिविधियों में परिवर्तन करके नई परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित किया।

16.2 राजनीतिक कारणों का महत्त्व

केंद्रीकृत राजतंत्र का उदय सामंतवाद के पतन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया थी। राजाओं ने कर-संग्रह, प्रशासन, न्याय और सैन्य संगठन को अधिक व्यवस्थित किया। इससे स्थानीय सामंतों के स्वतंत्र अधिकारों पर नियंत्रण बढ़ा।

राजसत्ता को नियमित आय और संगठित सेना प्राप्त होने से वह सामंतों के सहयोग पर पहले की तुलना में कम निर्भर रह सकती थी। इस प्रकार राजनीतिक शक्ति का स्थानीय प्रभुओं से केंद्रीय राज्य की ओर स्थानांतरण सामंतवाद के क्षरण का महत्त्वपूर्ण आधार बना।

16.3 सामाजिक कारणों का महत्त्व

कृषक असंतोष, श्रम की बदलती परिस्थितियाँ, महामारी और जनसंख्या में परिवर्तन ने सामंती सामाजिक संबंधों को प्रभावित किया। विशेष रूप से चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में फैली ब्लैक डेथ महामारी के बाद अनेक क्षेत्रों में श्रम की कमी ने किसानों और मजदूरों की स्थिति को बदल दिया।

नगरों तथा व्यापार के विकास ने लोगों को कृषि आधारित जीवन के अतिरिक्त अन्य आजीविकाओं के अवसर प्रदान किए। इससे सामाजिक गतिशीलता की संभावनाएँ बढ़ीं और पारंपरिक सामंती निर्भरता को चुनौती मिली।

16.4 सैन्य कारणों का महत्त्व

सामंतों की सैन्य शक्ति सामंती व्यवस्था का एक प्रमुख आधार थी। लेकिन नियमित सेना, वेतनभोगी सैनिकों, पैदल सेना, तोपों और अन्य सैन्य तकनीकों के विकास ने इस व्यवस्था को प्रभावित किया।

जब केंद्रीय शासक स्वतंत्र रूप से सेना संगठित करने लगे, तब सामंतों की सैन्य सहायता पर उनकी निर्भरता कम होने लगी। इस परिवर्तन ने राजसत्ता को स्थानीय सामंतों पर नियंत्रण बढ़ाने का अवसर दिया।

16.5 वैचारिक और सांस्कृतिक कारणों का महत्त्व

पुनर्जागरण, मानवतावाद, धार्मिक सुधार और शिक्षा के विस्तार ने यूरोपीय समाज के बौद्धिक जीवन को प्रभावित किया। इन परिवर्तनों ने सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के बारे में नए प्रश्न उठाए।

फिर भी सामंतवाद के पतन को केवल वैचारिक परिवर्तन का परिणाम नहीं माना जा सकता। आर्थिक संसाधनों, राजनीतिक संस्थाओं, युद्धों और सामाजिक संबंधों में हुए परिवर्तन भी उतने ही महत्त्वपूर्ण थे।

16.6 महामारी और जनसंख्या परिवर्तन का महत्त्व

ब्लैक डेथ महामारी ने यूरोप की जनसंख्या, कृषि उत्पादन और श्रम बाजार को गहराई से प्रभावित किया। श्रमिकों की कमी के कारण कुछ क्षेत्रों में मजदूरी बढ़ी और कृषकों को अधिक अनुकूल शर्तें प्राप्त करने का अवसर मिला।

इसके बावजूद महामारी का प्रभाव पूरे यूरोप में समान नहीं था। कुछ क्षेत्रों में किसानों की स्थिति बेहतर हुई, जबकि अन्य में भू-स्वामियों ने श्रम पर नियंत्रण बनाए रखा। इसलिए महामारी को सामंतवाद के पतन का एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक कारण माना जाना चाहिए, न कि उसका एकमात्र कारण।

16.7 भारतीय संदर्भ में ऐतिहासिक विविधता

भारत में सामंती संबंधों के परिवर्तन की प्रक्रिया अलग-अलग राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित हुई। प्रारंभिक मध्यकालीन भूमि-अनुदानों, स्थानीय सामंतों, दिल्ली सल्तनत की इक्ता व्यवस्था, मुगल मनसबदारी-जागीरदारी व्यवस्था, औपनिवेशिक भूमि-राजस्व नीतियों तथा स्वतंत्रता के बाद के भूमि सुधारों ने विभिन्न रूपों में भूमि और सत्ता के संबंधों को बदला।

भारतीय संदर्भ में किसी एक घटना को सामंतवाद के पूर्ण पतन का कारण बताना उचित नहीं है। यहाँ क्षेत्रीय विविधता, कृषि संबंधों, जाति संरचना, राजस्व व्यवस्था और स्थानीय भू-स्वामियों की भूमिका को ध्यान में रखना आवश्यक है।

17. सामंतवाद के पतन और आधुनिकता के उदय के बीच संबंध

सामंतवाद के पतन ने आधुनिक यूरोपीय समाज के निर्माण के लिए परिस्थितियाँ तैयार कीं। लेकिन आधुनिकता का उदय सामंतवाद के अंत का तत्काल और स्वतःस्फूर्त परिणाम नहीं था। इसके लिए अनेक अतिरिक्त आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सामाजिक परिवर्तन आवश्यक थे।

17.1 आधुनिक राज्य का विकास

सामंती विकेंद्रीकरण की तुलना में आधुनिक राज्य अधिक संगठित प्रशासन, नियमित राजस्व, निर्धारित सीमाओं और केंद्रीकृत राजनीतिक संस्थाओं पर आधारित होने लगा। समय के साथ इन संस्थाओं का विकास विभिन्न यूरोपीय राज्यों में अलग-अलग रूपों में हुआ।

आधुनिक राज्य के निर्माण में सामंतवाद का क्षरण महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इससे स्थानीय प्रभुओं की स्वतंत्र सत्ता को चुनौती मिली। हालांकि आधुनिक राज्य के विकास में युद्ध, राजवंशीय राजनीति, कानून और प्रशासनिक सुधारों की भूमिका भी निर्णायक थी।

17.2 बाजार और पूँजी का विस्तार

सामंती संबंधों के परिवर्तन के साथ बाजार और व्यापार का विस्तार हुआ। वस्तुओं के उत्पादन, वित्तीय लेन-देन और पूँजी निवेश के महत्त्व में वृद्धि हुई। इससे आर्थिक गतिविधियों का स्वरूप अधिक जटिल हुआ।

बाद के समय में औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन की तकनीक, श्रम संबंधों और आर्थिक संगठन को गहराई से बदल दिया। इस प्रकार सामंतवाद के पतन और औद्योगिक समाज के उदय के बीच संबंध तो था, लेकिन दोनों प्रक्रियाओं के बीच कई ऐतिहासिक चरण मौजूद थे।

17.3 आधुनिक सामाजिक संरचना

आधुनिक समाज में व्यक्ति की स्थिति केवल भूमि, जन्म और वंश से निर्धारित नहीं होती। शिक्षा, व्यवसाय, संपत्ति, राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक गतिशीलता भी महत्त्वपूर्ण हो गए।

हालाँकि आधुनिक समाज में आर्थिक असमानता समाप्त नहीं हुई। सामंती विशेषाधिकारों के स्थान पर अनेक क्षेत्रों में संपत्ति और पूँजी पर आधारित असमानताएँ विकसित हुईं। इसलिए सामंतवाद का पतन सामाजिक समानता की पूर्ण स्थापना के समान नहीं था।

17.4 आधुनिक विचारों का विकास

आधुनिक काल में नागरिक अधिकारों, कानून के समक्ष समानता, प्रतिनिधि शासन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचारों का विकास हुआ। इन विचारों ने सामंती विशेषाधिकारों को चुनौती देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लेकिन इन विचारों का व्यापक राजनीतिक प्रभाव मुख्यतः बाद के काल में विकसित हुआ। इसलिए आधुनिक लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों को सामंतवाद के पतन के तत्काल परिणाम के बजाय एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया का हिस्सा समझना चाहिए।

18. इतिहासकारों के दृष्टिकोण से सामंतवाद

सामंतवाद के अध्ययन में इतिहासकारों के दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनके माध्यम से यह समझने में सहायता मिलती है कि सामंती व्यवस्था की प्रकृति, उसके विकास और पतन को किस प्रकार परिभाषित किया गया है।

18.1 कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण

कार्ल मार्क्स ने इतिहास के अध्ययन में उत्पादन संबंधों, वर्ग संघर्ष और आर्थिक संरचना के महत्त्व पर बल दिया। उनकी ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि के अनुसार किसी समाज की आर्थिक संरचना और उत्पादन संबंध उसके सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित करते हैं।

मार्क्सवादी इतिहासलेखन में सामंतवाद को ऐसी उत्पादन व्यवस्था के रूप में समझा जाता है जिसमें कृषक प्रत्यक्ष उत्पादक होते हैं और सामंती प्रभु भूमि तथा सामाजिक अधिकारों के माध्यम से कृषि अधिशेष पर नियंत्रण रखते हैं।

इस दृष्टिकोण में सामंतवाद के पतन को उत्पादन संबंधों में परिवर्तन, व्यापार के विस्तार, वर्ग संघर्ष और पूँजीवादी संबंधों के विकास से जोड़ा जाता है। हालांकि विभिन्न मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इन परिवर्तनों की व्याख्या अलग-अलग ढंग से की है।

18.2 मार्क ब्लॉक का योगदान

फ्रांसीसी इतिहासकार मार्क ब्लॉक की पुस्तक *Feudal Society* सामंती समाज के अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उन्होंने सामंती समाज को केवल राजनीतिक संस्थाओं के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों, मानसिकताओं, भूमि, संरक्षण और निर्भरता की व्यापक संरचना के रूप में समझने का प्रयास किया।

ब्लॉक का दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि सामंतवाद को समझने के लिए केवल राजाओं और युद्धों का इतिहास पर्याप्त नहीं है। ग्रामीण समाज, सामाजिक संबंधों, आर्थिक जीवन और स्थानीय परंपराओं का अध्ययन भी आवश्यक है।

18.3 फ्रांस्वा-लुई गान्शोफ का योगदान

इतिहासकार फ्रांस्वा-लुई गान्शोफ ने यूरोपीय सामंतवाद की कानूनी और राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी पुस्तक *Feudalism* में प्रभु-अधीनस्थ संबंधों, जागीर और सामंती दायित्वों की व्याख्या की गई है।

उनका दृष्टिकोण सामंतवाद की संस्थागत संरचना को समझने में उपयोगी है। इससे स्पष्ट होता है कि यूरोपीय सामंतवाद में भूमि, निष्ठा और सैन्य सेवा से जुड़े संबंधों का विशिष्ट महत्त्व था।

18.4 डी. डी. कोसांबी का दृष्टिकोण

भारतीय इतिहासकार डी. डी. कोसांबी ने भारतीय इतिहास की व्याख्या में सामाजिक संरचना, उत्पादन संबंधों, तकनीकी परिवर्तन और भौतिक परिस्थितियों के महत्त्व पर बल दिया। उन्होंने भारतीय समाज को स्थिर और अपरिवर्तनीय मानने के बजाय ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में समझा।

कोसांबी का दृष्टिकोण भारतीय सामंतवाद के अध्ययन में उपयोगी है, क्योंकि यह भूमि, उत्पादन, सामाजिक समूहों और स्थानीय राजनीतिक संरचनाओं के बीच संबंधों का विश्लेषण करने की प्रेरणा देता है।

18.5 आर. एस. शर्मा का दृष्टिकोण

आर. एस. शर्मा भारतीय सामंतवाद की अवधारणा के प्रमुख इतिहासकारों में गिने जाते हैं। उन्होंने प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में भूमि-अनुदानों, राजस्व अधिकारों, स्थानीय शक्तियों और कृषकों की स्थिति का विश्लेषण किया।

उनके अनुसार कुछ क्षेत्रों में भूमि-अनुदानों और प्रशासनिक अधिकारों के हस्तांतरण से राजनीतिक विकेंद्रीकरण तथा स्थानीय प्रभुत्व के विकास को बल मिला। उन्होंने इन परिवर्तनों को भारतीय सामंतवाद की बहस के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण माना।

हालाँकि भारतीय सामंतवाद के स्वरूप और उसकी सीमा को लेकर इतिहासकारों में मतभेद हैं। इसलिए आर. एस. शर्मा के दृष्टिकोण के साथ अन्य इतिहासकारों की व्याख्याओं और क्षेत्रीय ऐतिहासिक साक्ष्यों का अध्ययन भी आवश्यक है।

19. सामंतवाद के अध्ययन में प्रमुख ऐतिहासिक स्रोत

सामंतवाद के विकास, संरचना और पतन का अध्ययन करने के लिए विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक स्रोतों का उपयोग किया जाता है। इन स्रोतों की सहायता से भूमि संबंधों, राजनीतिक अधिकारों, कृषि उत्पादन और सामाजिक संरचना की जानकारी प्राप्त होती है।

19.1 अभिलेख

अभिलेख सामंतवाद के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। इनमें राजकीय आदेशों, भूमि-अनुदानों, उपाधियों, प्रशासनिक पदों और राजनीतिक संबंधों की जानकारी मिल सकती है।

भारत में ताम्रपत्रों तथा शिलालेखों के माध्यम से भूमि-अनुदानों, राजस्व अधिकारों और स्थानीय अधिकारियों के संबंध में जानकारी प्राप्त होती है। हालांकि किसी अभिलेख में दर्ज दावे को उसके ऐतिहासिक संदर्भ और अन्य स्रोतों के साथ मिलाकर समझना आवश्यक है।

19.2 साहित्यिक स्रोत

मध्यकालीन साहित्य, इतिहास ग्रंथ, धार्मिक रचनाएँ और प्रशासनिक विवरण सामंती समाज के अध्ययन में उपयोगी हैं। इनसे सामाजिक आदर्शों, शासकों की छवि, धार्मिक मान्यताओं और राजनीतिक संबंधों की जानकारी मिलती है।

लेकिन साहित्यिक स्रोतों में आदर्शों और वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों के बीच अंतर हो सकता है। इसलिए उनका आलोचनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

19.3 राजस्व अभिलेख

भूमि और राजस्व से संबंधित अभिलेखों के माध्यम से लगान, कर, भूमि अधिकार और कृषि उत्पादन की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। भारत में मुगलकालीन राजस्व संबंधी विवरण, औपनिवेशिक बंदोबस्त अभिलेख और भूमि सर्वेक्षण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

इन अभिलेखों का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि राजस्व प्रशासन द्वारा तैयार किए गए आँकड़े प्रशासनिक उद्देश्यों से प्रभावित हो सकते हैं। इसलिए अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से उनका मिलान करना उपयोगी होता है।

19.4 पुरातात्त्विक स्रोत

दुर्गों, ग्रामीण बस्तियों, मंदिरों, मठों, कृषि उपकरणों और सिंचाई संरचनाओं के पुरातात्त्विक अध्ययन से सामंती समाज की भौतिक संरचना समझने में सहायता मिलती है।

इन स्रोतों से यह पता लगाया जा सकता है कि स्थानीय सत्ता के केंद्र कहाँ विकसित हुए, कृषि उत्पादन के साधन कैसे थे और बस्तियों का आर्थिक जीवन किस प्रकार संगठित था।

19.5 विदेशी यात्रियों के विवरण

विदेशी यात्रियों के विवरण व्यापार, नगरों, राजदरबारों, सामाजिक जीवन और प्रशासन के अध्ययन में उपयोगी हैं। भारत के संदर्भ में विभिन्न कालों के यात्रियों के वृत्तांत ऐतिहासिक जानकारी प्रदान करते हैं।

हालाँकि यात्रियों के विवरण उनकी व्यक्तिगत दृष्टि, भाषा, उद्देश्य और अनुभवों से प्रभावित होते थे। इसलिए उन्हें स्वतंत्र और अंतिम प्रमाण मानने के बजाय अन्य स्रोतों के साथ मिलाकर उपयोग करना चाहिए।

20. निष्कर्ष

सामंतवाद मध्यकालीन इतिहास की एक जटिल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था थी। इसका आधार भूमि पर नियंत्रण, कृषि अधिशेष का हस्तांतरण, स्थानीय प्रभुओं की शक्ति, सैन्य सेवा और सामाजिक निर्भरता के संबंध थे। यूरोप में सामंतवाद का विकास पश्चिमी रोमन साम्राज्य के विघटन, राजनीतिक अस्थिरता, सुरक्षा की आवश्यकता, भूमि आधारित अर्थव्यवस्था और प्रभु-अधीनस्थ संबंधों के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप हुआ। भारत में भूमि-अनुदानों, स्थानीय सामंतों, राजस्व अधिकारों और क्षेत्रीय राजनीतिक संरचनाओं ने कुछ क्षेत्रों में समानताएँ उत्पन्न कीं, लेकिन भारतीय सामंतवाद का ऐतिहासिक स्वरूप यूरोपीय व्यवस्था से भिन्न था।

सामंतवाद के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि यह केवल राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण तक सीमित नहीं था। इसका प्रभाव कृषि उत्पादन, सामाजिक वर्गीकरण, धार्मिक संस्थाओं, स्थानीय प्रशासन, न्याय व्यवस्था, सैन्य संगठन और सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ा। सामंतवादी समाज में भूमि आर्थिक शक्ति का प्रमुख आधार थी, लेकिन उसके साथ श्रम, प्रतिष्ठा, संरक्षण और राजनीतिक अधिकारों के संबंध भी जुड़े हुए थे।

सामंतवाद के पतन की प्रक्रिया अनेक शताब्दियों तक चलती रही। यूरोप में व्यापार-वाणिज्य के विस्तार, नगरों के विकास, मुद्रा अर्थव्यवस्था, कृषक विद्रोह, ब्लैक डेथ महामारी, सैन्य तकनीक में परिवर्तन और केंद्रीकृत राजतंत्र के उदय ने सामंती व्यवस्था को कमजोर किया। पुनर्जागरण, शिक्षा के विस्तार और नए बौद्धिक दृष्टिकोणों ने भी व्यापक सामाजिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार की। इन प्रक्रियाओं ने स्थानीय सामंतों के आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व को चुनौती दी और आधुनिक राज्य तथा बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के विकास की परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं।

भारत में सामंती संबंधों का परिवर्तन एक अलग ऐतिहासिक मार्ग से हुआ। दिल्ली सल्तनत की इक्ता व्यवस्था, मुगलकालीन मनसबदारी-जागीरदारी प्रणाली, औपनिवेशिक भूमि-राजस्व व्यवस्थाओं, कृषि के वाणिज्यीकरण और स्वतंत्रता के बाद के भूमि सुधारों ने विभिन्न क्षेत्रों में भूमि तथा सत्ता के संबंधों को प्रभावित किया। फिर भी इन परिवर्तनों को भारतीय सामंतवाद के एक निश्चित और सर्वव्यापी अंत के रूप में नहीं देखा जा सकता, क्योंकि क्षेत्रीय विविधता और स्थानीय सामाजिक संरचनाएँ लंबे समय तक प्रभावशाली बनी रहीं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि **सामंतवाद का पतन किसी एक घटना का परिणाम न होकर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सैन्य और वैचारिक परिवर्तनों की संयुक्त ऐतिहासिक प्रक्रिया था।** इस प्रक्रिया ने भूमि पर आधारित पारंपरिक प्रभुत्व को चुनौती दी, राजसत्ता के केंद्रीकरण को प्रोत्साहित किया और आधुनिक आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं के विकास की परिस्थितियाँ तैयार कीं। फिर भी सामंतवाद के पतन का अर्थ शोषण, असमानता और सामाजिक निर्भरता का पूर्ण अंत नहीं था। अनेक पुराने संबंध नए रूपों में बने रहे और आधुनिक समाज में भी आर्थिक तथा सामाजिक असमानताएँ विद्यमान रहीं।

इस प्रकार सामंतवाद का अध्ययन न केवल मध्यकालीन समाज को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है, बल्कि आधुनिक राज्य, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, भूमि सुधार और सामाजिक परिवर्तन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए भी आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

निम्नलिखित ग्रंथ सामंतवाद के अध्ययन, यूरोपीय मध्यकालीन इतिहास, भारतीय सामंतवाद और ऐतिहासिक व्याख्याओं को समझने के लिए उपयोगी हैं। शोधपत्र में किसी विशेष तथ्य, उद्धरण या पृष्ठ संख्या का उपयोग करने से पहले संबंधित संस्करण का मूल पाठ अवश्य देखना चाहिए।

क. यूरोपीय सामंतवाद

1. Bloch, Marc. *Feudal Society*. Translated by L. A. Manyon. Routledge & Kegan Paul, 1961.
2. Ganshof, F. L. *Feudalism*. Translated by Philip Grierson. Longmans, Green and Co., 1952.
3. Brown, Elizabeth A. R. “The Tyranny of a Construct: Feudalism and Historians of Medieval Europe.” *The American Historical Review*, Vol. 79, No. 4, 1974, pp. 1063–1088.
4. Hilton, R. H., editor. *The Transition from Feudalism to Capitalism*. Verso, 1976.
5. Duby, Georges. *Rural Economy and Country Life in the Medieval West*. University of South Carolina Press, 1968.
6. Postan, M. M. *The Medieval Economy and Society: An Economic History of Britain in the Middle Ages*. University of California Press, 1972.

ख. भारतीय सामंतवाद और प्रारंभिक मध्यकाल

7. Kosambi, D. D. *An Introduction to the Study of Indian History*. Popular Prakashan, 1956.
8. Sharma, R. S. *Indian Feudalism, c. 300–1200*. Macmillan, 1980.

9. Sharma, R. S. *Early Medieval Indian Society: A Study in Feudalisation*. Orient Longman, 2001.

10. Chattopadhyaya, B. D. *The Making of Early Medieval India*. Oxford University Press, 1994.

11. Stein, Burton. *Peasant State and Society in Medieval South India*. Oxford University Press, 1980.

12. Kulke, Hermann, editor. *The State in India, 1000–1700*. Oxford University Press, 1995.

ग. मध्यकालीन भारत की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था

13. Habib, Irfan. *The Agrarian System of Mughal India, 1556–1707*. Oxford University Press, 1999.

14. Moreland, W. H. *India at the Death of Akbar: An Economic Study*. Macmillan, 1920.

15. Richards, John F. *The Mughal Empire*. Cambridge University Press, 1993.

16. Stein, Burton. *A History of India*. Wiley-Blackwell, 2010.

घ. भारत में औपनिवेशिक भूमि व्यवस्था

17. Guha, Ranajit. *A Rule of Property for Bengal: An Essay on the Idea of Permanent Settlement*. Duke University Press, 1996.

18. Stokes, Eric. *The Peasant and the Raj: Studies in Agrarian Society and Peasant Rebellion in Colonial India*. Cambridge University Press, 1978.

19. Kumar, Dharma, editor. *The Cambridge Economic History of India, Volume II: c. 1757–c. 1970*. Cambridge University Press, 1983.

परीक्षा की दृष्टि से मुख्य बिंदु

सामंतवाद की उत्पत्ति के कारण

1. केंद्रीय सत्ता की कमजोरी।
2. राजनीतिक अस्थिरता और सुरक्षा की आवश्यकता।
3. कृषि आधारित अर्थव्यवस्था।
4. भूमि के बदले सैन्य सेवा की परंपरा।
5. बड़े भू-स्वामियों का उदय।
6. स्थानीय संरक्षण और आश्रय की आवश्यकता।

7. मुद्रा अर्थव्यवस्था का सीमित विकास।
8. भूमि और राजस्व अधिकारों का विकेंद्रीकरण।

सामंतवाद के पतन के प्रमुख कारण

1. व्यापार-वाणिज्य और नगरों का विकास।
2. मुद्रा अर्थव्यवस्था का विस्तार।
3. कृषि उत्पादन और श्रम संबंधों में परिवर्तन।
4. सामंतों के आपसी संघर्ष और युद्ध।
5. केंद्रीकृत राजतंत्र का उदय।
6. स्थायी सेना और नई सैन्य तकनीकों का विकास।
7. कृषक विद्रोह और सामंती शोषण के विरुद्ध असंतोष।
8. ब्लैक डेथ महामारी और जनसंख्या में परिवर्तन।
9. चर्च की राजनीतिक शक्ति में परिवर्तन।
10. पुनर्जागरण और बौद्धिक परिवर्तन।
11. व्यापारिक वर्ग तथा पूँजीवादी संबंधों का विकास।
12. आधुनिक प्रशासन और राज्य संस्थाओं का विस्तार।

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक निष्कर्ष: यूरोपीय सामंतवाद का पतन मुख्यतः मध्यकाल के उत्तरार्द्ध से प्रारंभिक आधुनिक काल तक चलने वाली बहुआयामी प्रक्रिया थी। भारतीय सामंती संबंधों का परिवर्तन अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर हुआ; इसलिए दोनों के पतन को एक समान ऐतिहासिक प्रक्रिया नहीं माना जाना चाहिए।

पूँजीवाद का उदय : अर्थ एवं परिवर्तन पर बहस तथा बदलता सामाजिक और आर्थिक ढाँचा

(Rise of Capitalism: Meaning, Debates on Transition, and Changing Social and Economic Structure)

प्रस्तावना

पूँजीवाद आधुनिक विश्व के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं में से एक है। आधुनिक यूरोप के निर्माण, औद्योगिक क्रांति, नगरीकरण, उपनिवेशवाद, आधुनिक राष्ट्र-राज्य, श्रमिक वर्ग के उदय तथा वैश्विक अर्थव्यवस्था के विकास को समझने के लिए पूँजीवाद का अध्ययन आवश्यक है। पूँजीवाद केवल उत्पादन और व्यापार की एक आर्थिक प्रणाली नहीं है, बल्कि यह समाज के संगठन, श्रम के स्वरूप, संपत्ति के वितरण, सामाजिक संबंधों और राजनीतिक संस्थाओं को भी प्रभावित करने वाली व्यापक ऐतिहासिक व्यवस्था है।

मध्यकालीन यूरोप में आर्थिक जीवन का बड़ा हिस्सा सामंती संबंधों, कृषि, स्थानीय बाजारों तथा भूमि पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा से संचालित होता था। भूमि उत्पादन का प्रमुख साधन थी और समाज में व्यक्ति की स्थिति प्रायः उसके जन्म, सामंती अधिकारों तथा भूमि से संबंधों द्वारा निर्धारित होती थी। इसके विपरीत, पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजी का निवेश, बाजार के लिए उत्पादन, मजदूरी पर आधारित श्रम, निजी संपत्ति, लाभ प्राप्ति और उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण विशेष महत्त्व प्राप्त करते हैं।

हालाँकि पूँजीवाद का उदय किसी एक घटना, आविष्कार या क्रांति का परिणाम नहीं था। यह कई शताब्दियों में विकसित हुई एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। यूरोप में व्यापार के विस्तार, नगरों के विकास, मुद्रा अर्थव्यवस्था के प्रसार, कृषि संबंधों में परिवर्तन, सामंती अधिकारों के कमजोर होने, समुद्री व्यापार, उपनिवेशवाद, दास व्यापार, वित्तीय संस्थाओं तथा औद्योगिक क्रांति ने इस प्रक्रिया को अलग-अलग रूपों में प्रभावित किया।

पूँजीवाद के उदय को लेकर इतिहासकारों के बीच लंबे समय से बहस चली आ रही है। क्या पूँजीवाद का जन्म मध्यकालीन व्यापार और नगरों के विकास से हुआ? क्या सामंतवाद के आंतरिक विरोधाभासों ने पूँजीवाद के उदय का मार्ग प्रशस्त किया? क्या यूरोप में कृषि संबंधों के परिवर्तन और किसानों के भूमि से अलग होने की प्रक्रिया अधिक निर्णायक थी? अथवा उपनिवेशवाद, अटलांटिक व्यापार और वैश्विक संसाधनों के शोषण ने पूँजीवादी विकास की वास्तविक नींव रखी? इन प्रश्नों के उत्तर इतिहासकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से देने का प्रयास किया है।

पूँजीवाद के उदय का अध्ययन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसने समाज के पारंपरिक ढाँचे को बदल दिया। सामंती प्रभुओं, कृषकों और कारीगरों के स्थान पर पूँजीपति वर्ग, औद्योगिक श्रमिक वर्ग, वेतनभोगी कर्मचारी और आधुनिक उद्यमी सामाजिक संरचना के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए। उत्पादन का उद्देश्य केवल स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित नहीं रहा, बल्कि बाजार के विस्तार और लाभ की प्राप्ति से जुड़ गया।

इस प्रकार पूँजीवाद ने आधुनिक आर्थिक विकास के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष, आर्थिक असमानता, श्रमिक आंदोलनों और सामाजिक परिवर्तन की नई परिस्थितियाँ भी उत्पन्न कीं।

इस निबंध में पूँजीवाद के अर्थ, उसकी प्रमुख विशेषताओं, उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण संबंधी इतिहासलेखन की बहसों तथा बदलते सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का विस्तृत अध्ययन किया जाएगा।

1. पूँजीवाद का अर्थ एवं परिभाषा

1.1 पूँजीवाद का शाब्दिक अर्थ

पूँजीवाद शब्द का निर्माण 'पूँजी' से हुआ है। पूँजी से आशय ऐसे धन, संसाधनों, उपकरणों, मशीनों, भवनों, कच्चे माल तथा अन्य संपत्तियों से है, जिनका उपयोग भविष्य में उत्पादन, व्यापार अथवा लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है।

सामान्य अर्थ में पूँजीवाद ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जिसमें उत्पादन के प्रमुख साधनों पर निजी स्वामित्व होता है, वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन मुख्यतः बाजार के लिए किया जाता है और आर्थिक गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है। इसमें पूँजी का निवेश, श्रम का उपयोग, वस्तुओं का विनिमय और उत्पादन के विस्तार के माध्यम से पूँजी को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।

लेकिन केवल धन या व्यापार की उपस्थिति को पूँजीवाद नहीं कहा जा सकता। प्राचीन सभ्यताओं में भी व्यापार, ऋण, ब्याज, निजी संपत्ति और धन-संचय मौजूद थे। मध्यकालीन समाज में भी व्यापारी तथा साहूकार सक्रिय थे। पूँजीवाद की विशिष्टता इस बात में है कि उत्पादन, श्रम और निवेश की प्रक्रिया व्यवस्थित रूप से बाजार, प्रतिस्पर्धा तथा पूँजी के संचय से जुड़ जाती है।

1.2 प्रमुख विचारकों के अनुसार पूँजीवाद

कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण

कार्ल मार्क्स ने पूँजीवाद को एक ऐतिहासिक उत्पादन-पद्धति के रूप में समझा। उनके अनुसार पूँजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों पर पूँजीपति वर्ग का नियंत्रण होता है, जबकि श्रमिक वर्ग अपनी श्रम-शक्ति को मजदूरी के बदले बेचता है।

मार्क्स के विश्लेषण में पूँजीवाद की प्रमुख विशेषता पूँजीपति और मजदूर के बीच का संबंध है। पूँजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है और श्रमिक उत्पादन प्रक्रिया में अपनी श्रम-शक्ति का उपयोग करता है। श्रमिक द्वारा उत्पन्न मूल्य और उसे दी जाने वाली मजदूरी के बीच का अंतर मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा को समझने का आधार है।

मार्क्स ने पूँजीवाद को स्थायी और अपरिवर्तनीय व्यवस्था नहीं माना, बल्कि उसे एक ऐतिहासिक व्यवस्था के रूप में देखा, जिसका उदय विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों में हुआ और जिसके भीतर अंतर्विरोध भी विकसित होते हैं।

मैक्स वेबर का दृष्टिकोण

मैक्स वेबर ने आधुनिक पूँजीवाद के विकास में तर्कसंगत आर्थिक संगठन, व्यवस्थित लेखांकन, कानूनी व्यवस्था, अनुशासित श्रम और नौकरशाही की भूमिका पर बल दिया। उनकी प्रसिद्ध कृति *द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म* में उन्होंने कुछ प्रोटेस्टेंट धार्मिक नैतिकताओं और आधुनिक पूँजीवादी व्यवहार के बीच संबंध की पड़ताल की।

वेबर का तर्क यह नहीं था कि पूँजीवाद केवल धर्म के कारण उत्पन्न हुआ। उन्होंने यह समझाने का प्रयास किया कि कुछ धार्मिक विचारों, अनुशासित जीवन-पद्धतियों और आर्थिक व्यवहारों ने आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित कीं।

फर्नां ब्रॉडेल का दृष्टिकोण

फर्नां ब्रॉडेल ने व्यापार, बाजार और पूँजीवाद के बीच अंतर पर ध्यान केंद्रित किया। उनके अनुसार सामान्य बाजार अर्थव्यवस्था में अनेक छोटे उत्पादक और व्यापारी प्रतिस्पर्धा करते हैं, जबकि उच्च स्तर का पूँजीवाद अक्सर बड़े व्यापारिक नेटवर्क, वित्तीय शक्ति, एकाधिकार और राजनीतिक संरक्षण से जुड़ता है।

ब्रॉडेल का दृष्टिकोण यह स्पष्ट करता है कि पूँजीवाद को केवल स्वतंत्र बाजार का पर्याय मानना पर्याप्त नहीं है। ऐतिहासिक रूप से बड़े व्यापारियों और वित्तीय समूहों ने कई बार राज्य की शक्ति तथा विशेषाधिकारों का उपयोग करके अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत की।

1.3 पूँजीवाद की प्रमुख विशेषताएँ

पूँजीवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **निजी संपत्ति:** उत्पादन के साधनों तथा आर्थिक संसाधनों पर निजी स्वामित्व।
2. **लाभ का उद्देश्य:** आर्थिक गतिविधियों का एक प्रमुख लक्ष्य लाभ अर्जित करना।
3. **पूँजी संचय:** लाभ को पुनः निवेश करके उत्पादन एवं व्यापार का विस्तार करना।
4. **बाजार व्यवस्था:** वस्तुओं, सेवाओं और श्रम का बाजार के माध्यम से विनिमय।
5. **मजदूरी पर आधारित श्रम:** श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति के बदले मजदूरी प्राप्त करते हैं।
6. **प्रतिस्पर्धा:** उत्पादकों और व्यापारियों के बीच बाजार में प्रतिस्पर्धा।
7. **उत्पादन का विस्तार:** अधिक उत्पादन, नई तकनीक और नए बाजारों की खोज।
8. **वस्तुओं का व्यापारीकरण:** अनेक वस्तुओं, सेवाओं और संसाधनों का बाजार में विनिमय योग्य बनना।

9. **आर्थिक असमानता:** संपत्ति और आय का असमान वितरण होने की संभावना।
10. **निरंतर परिवर्तन:** तकनीकी नवाचार, निवेश और बाजार विस्तार के माध्यम से आर्थिक संरचना में बदलाव।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वास्तविक पूँजीवादी व्यवस्थाओं में राज्य की भूमिका समाप्त नहीं होती। संपत्ति के अधिकार, अनुबंधों का प्रवर्तन, मुद्रा व्यवस्था, बुनियादी ढाँचे, शिक्षा और श्रम कानूनों में राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण रहती है। इसलिए पूँजीवाद को केवल राज्य के हस्तक्षेप के अभाव वाली व्यवस्था के रूप में परिभाषित करना उचित नहीं है।

2. पूँजीवाद के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पूँजीवाद का उदय यूरोप में मध्यकाल के अंतिम चरण से आरंभ होकर आधुनिक काल में क्रमशः विकसित हुआ। इसकी पृष्ठभूमि को समझने के लिए मध्यकालीन यूरोप की सामंती व्यवस्था तथा उसमें होने वाले आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन आवश्यक है।

2.1 सामंती व्यवस्था का स्वरूप

मध्यकालीन यूरोप में कृषि अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार थी। भूमि उत्पादन का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन थी और उसका बड़ा हिस्सा सामंतों, अभिजात वर्ग तथा चर्च के नियंत्रण में था। किसान भूमि पर खेती करते थे और अनेक क्षेत्रों में उन्हें सामंती प्रभुओं को लगान, श्रम-सेवा अथवा अन्य प्रकार के दायित्व देने पड़ते थे।

सामंती समाज में राजनीतिक शक्ति और आर्थिक अधिकारों का बड़ा हिस्सा स्थानीय प्रभुओं के हाथों में केंद्रित था। उत्पादन का उद्देश्य मुख्यतः स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सामंती प्रभुओं की आय सुनिश्चित करना था। यद्यपि इस व्यवस्था में भी व्यापार, नगर और मुद्रा मौजूद थे, फिर भी अनेक क्षेत्रों में कृषि संबंध और स्थानीय अधिकार आर्थिक जीवन को प्रभावित करते थे।

सामंती व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ थीं—

- भूमि पर आधारित संपत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा।
- कृषकों के सामंती दायित्व।
- स्थानीय उत्पादन एवं स्थानीय बाजारों का महत्त्व।
- सामंती प्रभुओं के राजनीतिक और न्यायिक अधिकार।
- उत्पादन और सामाजिक स्थिति पर जन्म तथा परंपरा का प्रभाव।

हालाँकि पूरे यूरोप में सामंतवाद एक समान नहीं था। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मन क्षेत्रों, इटली और पूर्वी यूरोप में भूमि संबंधों, कृषकों की स्थिति तथा राजनीतिक संस्थाओं में पर्याप्त अंतर थे। इसलिए पूँजीवाद के उदय को समझते समय पूरे यूरोप को एक समान इकाई मानना उचित नहीं होगा।

2.2 नगरों और व्यापार का विकास

मध्यकाल के अंतिम चरण में यूरोप के अनेक क्षेत्रों में नगरों और व्यापारिक गतिविधियों का विस्तार हुआ। इटली के वेनिस, जेनोआ और फ्लोरेंस जैसे नगर भूमध्यसागरीय व्यापार, वित्त और शिल्प उत्पादन के प्रमुख केंद्र बने। उत्तरी यूरोप में हैन्सियाटिक लीग से जुड़े नगरों ने समुद्री और क्षेत्रीय व्यापार के विकास में योगदान दिया।

व्यापारियों ने लंबी दूरी के व्यापार, ऋण, विनिमय, साझेदारी और लेखांकन की नई पद्धतियों को विकसित किया। मेलों और बाजारों ने विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादकों तथा व्यापारियों को जोड़ने का कार्य किया।

नगरों के विकास से ऐसी सामाजिक शक्तियों का उदय हुआ, जिनकी संपत्ति केवल भूमि पर आधारित नहीं थी। व्यापारी, साहूकार, शिल्पकार और नगरों के समृद्ध नागरिक आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

फिर भी यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि नगरों और व्यापार का विकास अपने आप में आधुनिक पूँजीवाद की स्थापना नहीं था। कई व्यापारी सामंती समाज के भीतर कार्य करते थे और उनका धन मुख्यतः व्यापार, ऋण तथा कर-संग्रह से प्राप्त होता था। आधुनिक पूँजीवाद के विकास के लिए उत्पादन और श्रम संबंधों में भी व्यापक परिवर्तन आवश्यक थे।

2.3 मुद्रा अर्थव्यवस्था का विस्तार

मध्यकालीन यूरोप में व्यापार बढ़ने के साथ मुद्रा का उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण हुआ। करों, लगान, ऋण और वस्तुओं के विनिमय में मुद्रा की भूमिका बढ़ी। कुछ क्षेत्रों में किसानों को अपनी उपज का एक हिस्सा वस्तु के रूप में देने के बजाय मुद्रा के रूप में भुगतान करना पड़ने लगा।

मुद्रा अर्थव्यवस्था के विस्तार से बाजार के साथ संबंध मजबूत हुए। किसानों, व्यापारियों और उत्पादकों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं को बाजार में बेचने तथा मुद्रा प्राप्त करने की अधिक आवश्यकता होने लगी।

इस परिवर्तन का प्रभाव सभी क्षेत्रों में एक जैसा नहीं था। कुछ क्षेत्रों में सामंती दायित्व मुद्रा भुगतान में बदले, जबकि अन्य क्षेत्रों में श्रम-सेवा और पारंपरिक अधिकार लंबे समय तक बने रहे। इस विविधता से स्पष्ट होता है कि पूँजीवाद का उदय एक बहुस्तरीय और क्षेत्र-विशिष्ट प्रक्रिया थी।

2.4 ब्लैक डेथ और श्रम संबंधों में परिवर्तन

चौदहवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप में फैली प्लेग महामारी, जिसे ब्लैक डेथ कहा जाता है, ने जनसंख्या और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। बड़ी संख्या में लोगों की मृत्यु से कई क्षेत्रों में श्रमिकों की उपलब्धता कम हो गई।

श्रम की कमी के कारण कुछ क्षेत्रों में मजदूरी बढ़ी और किसानों तथा श्रमिकों की सौदेबाजी की क्षमता मजबूत हुई। सामंती प्रभुओं ने श्रमिकों पर नियंत्रण बनाए रखने के प्रयास किए, जबकि कुछ किसानों ने बेहतर अवसरों की तलाश में स्थान परिवर्तन किया।

इंग्लैंड में 1381 का किसान विद्रोह तथा चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में श्रम संबंधों को नियंत्रित करने के प्रयास इस व्यापक सामाजिक तनाव के उदाहरण हैं।

हालाँकि ब्लैक डेथ को पूँजीवाद के उदय का सीधा कारण नहीं माना जा सकता। इसका प्रभाव अलग-अलग क्षेत्रों में अलग रहा। फिर भी इसने श्रम की उपलब्धता, मजदूरी, सामंती दायित्वों और ग्रामीण समाज की संरचना को प्रभावित करके दीर्घकालीन परिवर्तन की परिस्थितियाँ निर्मित कीं।

2.5 पुनर्जागरण और नए आर्थिक दृष्टिकोण

चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी के बीच यूरोप में पुनर्जागरण का विकास हुआ। इसका केंद्र प्राचीन यूनानी-रोमन ज्ञान, मानववाद, कला, साहित्य और बौद्धिक गतिविधियों का पुनर्मूल्यांकन था।

पुनर्जागरण को पूँजीवाद के उदय का प्रत्यक्ष या एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता। फिर भी शिक्षा, लेखांकन, मानचित्रण, तकनीकी ज्ञान, व्यापारिक संचार और वैज्ञानिक जिज्ञासा के विस्तार ने आर्थिक गतिविधियों के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित कीं।

व्यापारिक परिवारों और नगरों के समृद्ध वर्गों ने कला, शिक्षा और सार्वजनिक निर्माण को संरक्षण दिया। इससे धन, प्रतिष्ठा और सामाजिक प्रभाव के बीच नए संबंध विकसित हुए।

2.6 धर्म-सुधार आंदोलन

सोलहवीं शताब्दी का धर्म-सुधार आंदोलन यूरोप की धार्मिक और राजनीतिक संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लेकर आया। मार्टिन लूथर और जॉन कैल्विन जैसे सुधारकों ने चर्च की प्रथाओं तथा धार्मिक अधिकारों पर प्रश्न उठाए।

मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता के कुछ रूपों और आधुनिक पूँजीवादी व्यवहार के बीच संबंध का अध्ययन किया। उन्होंने अनुशासित जीवन, समय के उपयोग, व्यवसाय के प्रति कर्तव्यबोध और व्यवस्थित आर्थिक व्यवहार जैसे पक्षों पर बल दिया।

हालाँकि पूँजीवाद के विकास को केवल प्रोटेस्टेंट धर्म से जोड़ना ऐतिहासिक रूप से अपर्याप्त है। व्यापारिक और वित्तीय गतिविधियाँ उन क्षेत्रों में भी विकसित हुईं जहाँ कैथोलिक धर्म का प्रभाव था। इसलिए धर्म-

सुधार आंदोलन को पूँजीवाद के उदय की व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रिया के एक संभावित प्रभावकारी पक्ष के रूप में देखना चाहिए, न कि उसका एकमात्र कारण।

3. सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण : ऐतिहासिक बहस

सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण आधुनिक आर्थिक इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण इतिहासलेखन संबंधी बहसों में से एक है। यह बहस केवल इस प्रश्न तक सीमित नहीं है कि पूँजीवाद कब उत्पन्न हुआ, बल्कि इसका संबंध इस बात से भी है कि यूरोप में आर्थिक शक्ति, संपत्ति, श्रम और सामाजिक संबंधों का पुनर्गठन किस प्रकार हुआ।

इतिहासकारों के बीच इस विषय पर कई प्रमुख दृष्टिकोण विकसित हुए हैं।

3.1 मॉरिस डॉब का दृष्टिकोण

ब्रिटिश अर्थशास्त्री और इतिहासकार मॉरिस डॉब ने अपनी पुस्तक *Studies in the Development of Capitalism* (1946) में सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की।

डॉब के अनुसार सामंतवाद का पतन मुख्यतः उसकी आंतरिक संरचना में मौजूद विरोधाभासों से संबंधित था। सामंती प्रभुओं द्वारा कृषकों से अधिक लगान और श्रम-सेवा प्राप्त करने की कोशिश तथा कृषकों की स्वतंत्रता की आकांक्षा के बीच संघर्ष बढ़ता गया।

सामंती प्रभुओं की आय बढ़ाने के प्रयासों ने कई बार कृषकों पर आर्थिक दबाव बढ़ाया। दूसरी ओर, जनसंख्या, कृषि उत्पादन और बाजार की परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण सामंती व्यवस्था की पुरानी संरचनाओं पर दबाव पड़ा।

डॉब ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि सामंतवाद का पतन केवल बाहरी व्यापार के विकास से नहीं समझा जा सकता। इसके लिए उत्पादन संबंधों, कृषक वर्ग की स्थिति और सामंती शोषण के स्वरूप का अध्ययन आवश्यक है।

उनकी व्याख्या में वर्ग-संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कृषकों की स्वतंत्रता, सामंती दायित्वों से मुक्ति और उत्पादन के नए अवसरों ने पुराने सामाजिक संबंधों को कमजोर करने में योगदान दिया।

डॉब के दृष्टिकोण का महत्त्व: उन्होंने आर्थिक परिवर्तन के विश्लेषण में उत्पादन संबंधों और सामाजिक संघर्षों को केंद्रीय स्थान दिया।

आलोचना: यूरोप के सभी क्षेत्रों में सामंती संकट का स्वरूप एक जैसा नहीं था। इसलिए केवल सामंती उत्पादन संबंधों के आंतरिक विरोधाभासों से पूँजीवाद के विविध क्षेत्रीय मार्गों की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती।

3.2 पॉल स्वीजी का दृष्टिकोण

अर्थशास्त्री पॉल स्वीजी ने मॉरिस डॉब की व्याख्या की आलोचना करते हुए व्यापार और बाजार के विकास को अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार सामंती अर्थव्यवस्था की संरचना को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि बाहरी व्यापार और बाजार संबंधों ने सामंती समाज को किस प्रकार प्रभावित किया।

स्वीजी के दृष्टिकोण में लंबी दूरी के व्यापार, नगरों और बाजारों के विस्तार ने सामंती व्यवस्था के पारंपरिक संबंधों को बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

व्यापार के विस्तार से ऐसे आर्थिक अवसर विकसित हुए जो केवल स्थानीय कृषि उत्पादन पर निर्भर नहीं थे। व्यापारियों, नगरों और बाजारों के बढ़ते प्रभाव ने सामंती अर्थव्यवस्था के बाहर नए आर्थिक संबंधों को मजबूत किया।

स्वीजी की व्याख्या में बाजार का विकास एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकारी शक्ति है।

डॉब और स्वीजी के बीच प्रमुख अंतर

आधार	**मॉरिस डॉब**	**पॉल स्वीजी**
प्रमुख कारक	सामंती व्यवस्था के आंतरिक विरोधाभास	व्यापार और बाजार का विस्तार
विश्लेषण का केंद्र	उत्पादन संबंध और वर्ग-संघर्ष	विनिमय संबंध और व्यापार
परिवर्तन की प्रक्रिया	सामंती शोषण तथा कृषक संघर्ष से पुरानी व्यवस्था कमजोर हुई	बाजार के विकास ने पारंपरिक आर्थिक संबंधों को प्रभावित किया
मुख्य योगदान	उत्पादन-पद्धति की भूमिका स्पष्ट की	व्यापार और बाजार की स्वतंत्र भूमिका पर बल दिया

यह बहस बताती है कि पूँजीवाद का उदय समझने के लिए उत्पादन संबंधों और बाजार के विकास दोनों का अध्ययन आवश्यक है।

3.3 रॉबर्ट ब्रेनर का दृष्टिकोण

रॉबर्ट ब्रेनर ने 1976 में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध लेख *Agrarian Class Structure and Economic Development in Pre-Industrial Europe* में कृषि संबंधों और वर्ग-संरचना को पूँजीवाद के उदय की व्याख्या का आधार बनाया।

ब्रेनर के अनुसार व्यापार या जनसंख्या में परिवर्तन अपने आप में पूँजीवादी विकास सुनिश्चित नहीं करते। वास्तविक महत्त्व इस बात का है कि भूमि पर अधिकार किसके पास है, कृषकों की स्थिति क्या है और उत्पादकों को बाजार में भाग लेने के लिए किस प्रकार की आर्थिक बाध्यताएँ झेलनी पड़ती हैं।

ब्रेनर ने इंग्लैंड और फ्रांस के विकास की तुलना करते हुए बताया कि दोनों क्षेत्रों में जनसंख्या, व्यापार और कृषि उत्पादन में परिवर्तन होने के बावजूद उनके सामाजिक संबंध अलग थे।

इंग्लैंड में भूमि-स्वामित्व, बड़े भू-स्वामियों और किरायेदार किसानों के बीच विकसित संबंधों ने ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित कीं जिनमें अनेक कृषकों को प्रतिस्पर्धा, उत्पादन बढ़ाने और लागत नियंत्रित करने के लिए प्रेरित होना पड़ा।

दूसरी ओर, फ्रांस में अनेक क्षेत्रों में किसानों के भूमि-अधिकार और पारंपरिक व्यवस्थाएँ अलग रूप में बनी रहीं। इससे कृषि के व्यावसायीकरण और ग्रामीण सामाजिक संरचना के विकास का मार्ग इंग्लैंड से भिन्न रहा।

ब्रेनर के अनुसार पूँजीवाद के उदय को समझने के लिए वर्ग-संबंधों की ऐतिहासिक संरचना का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

ब्रेनर के दृष्टिकोण का महत्त्व: उन्होंने यह स्थापित किया कि एक जैसी बाजार परिस्थितियाँ अलग-अलग सामाजिक व्यवस्थाओं में अलग परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं।

आलोचना: उनके दृष्टिकोण पर यह प्रश्न उठाया गया कि क्या कृषि संबंधों को इतना केंद्रीय स्थान देना पर्याप्त है, जबकि उपनिवेशवाद, अंतरराष्ट्रीय व्यापार, वित्तीय व्यवस्था और राज्य की भूमिका भी पूँजीवादी विकास में प्रभावशाली रही।

3.4 इमैनुएल वालरस्टीन और विश्व-व्यवस्था सिद्धांत

इमैनुएल वालरस्टीन ने पूँजीवाद के उदय को केवल यूरोप के भीतर होने वाली प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा। उन्होंने आधुनिक विश्व-व्यवस्था के निर्माण पर बल दिया।

उनकी पुस्तक *The Modern World-System* का पहला खंड 1974 में प्रकाशित हुआ। वालरस्टीन के अनुसार सोलहवीं शताब्दी से यूरोप में विकसित हो रही विश्व-अर्थव्यवस्था ने विभिन्न क्षेत्रों को एक असमान आर्थिक व्यवस्था में जोड़ना शुरू किया।

इस व्यवस्था में कुछ क्षेत्र पूँजी, व्यापार, वित्त और उच्च लाभ वाले उत्पादन के केंद्र बने, जबकि अन्य क्षेत्र कच्चे माल, कृषि उत्पादों और श्रम की आपूर्ति से अधिक जुड़े रहे।

वालरस्टीन ने इस संरचना को मुख्यतः तीन व्यापक क्षेत्रों में समझाया—

1. **केंद्र:** वे क्षेत्र जहाँ व्यापार, वित्त, उत्पादन और राजनीतिक शक्ति अपेक्षाकृत अधिक केंद्रित हुई।
2. **अर्ध-परिधि:** वे क्षेत्र जिनमें केंद्र और परिधि दोनों प्रकार की विशेषताएँ थीं।
3. **परिधि:** वे क्षेत्र जो असमान वैश्विक संबंधों में कच्चे माल, कृषि उत्पादों और श्रम की आपूर्ति से अधिक जुड़े थे।

यह विभाजन पूर्णतः स्थिर नहीं था। विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति समय के साथ बदल सकती थी।

वालरस्टीन के अनुसार यूरोपीय पूँजीवाद के विकास को अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के साथ बने व्यापारिक संबंधों से अलग करके नहीं समझा जा सकता। अटलांटिक व्यापार, उपनिवेशवाद और वैश्विक श्रम-विभाजन ने पूँजी संचय तथा यूरोपीय आर्थिक शक्ति के विस्तार में योगदान दिया।

महत्त्व: इस सिद्धांत ने पूँजीवाद के अध्ययन को यूरोपीय इतिहास की सीमाओं से निकालकर वैश्विक आर्थिक संबंधों से जोड़ा।

आलोचना: इस दृष्टिकोण पर यह प्रश्न उठाया गया कि विभिन्न समाजों की आंतरिक संस्थाओं, स्थानीय वर्ग-संबंधों और विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों को वैश्विक आर्थिक संरचना के भीतर पर्याप्त स्वतंत्रता मिलती है या नहीं।

3.5 फर्नां ब्रॉडेल का दृष्टिकोण

फर्ना ब्रॉडेल ने आर्थिक इतिहास को दीर्घकालीन सामाजिक और भौगोलिक परिवर्तनों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया।

उनके अनुसार पूँजीवाद का विकास केवल औद्योगिक क्रांति के समय अचानक नहीं हुआ। इसके पीछे सदियों से विकसित होते व्यापारिक नेटवर्क, समुद्री मार्ग, वित्तीय संस्थाएँ, बाजार, नगर और बड़े व्यापारिक समूह मौजूद थे।

ब्रॉडेल ने सामान्य बाजार अर्थव्यवस्था और उच्च पूँजीवाद के बीच अंतर पर बल दिया। सामान्य बाजारों में अनेक उत्पादक तथा व्यापारी प्रतिस्पर्धा करते हैं, जबकि बड़े पूँजीवादी समूह कई बार विशेषाधिकारों, वित्तीय शक्ति और राज्य से निकट संबंधों के माध्यम से लाभ प्राप्त करते हैं।

इस दृष्टिकोण के अनुसार पूँजीवाद को केवल स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा के रूप में समझना अधूरा है। ऐतिहासिक रूप से व्यापारिक एकाधिकार, राजनीतिक संरक्षण और बड़े वित्तीय नेटवर्क भी इसकी संरचना का हिस्सा रहे हैं।

3.6 जेनेट अबू-लुगोड और वैश्विक व्यापार की पूर्ववर्ती व्यवस्थाएँ

इतिहासकार जेनेट अबू-लुगोड ने अपनी पुस्तक *Before European Hegemony: The World System A.D. 1250–1350* (1989) में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों के दौरान विकसित यूरेशियाई व्यापारिक नेटवर्कों का अध्ययन किया।

उन्होंने दिखाया कि यूरोपीय प्रभुत्व के मजबूत होने से पहले भी एशिया, मध्य पूर्व, अफ्रीका और यूरोप के बीच विस्तृत व्यापारिक संपर्क मौजूद थे।

इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि व्यापार, लंबी दूरी का विनिमय और आर्थिक परस्पर निर्भरता केवल आधुनिक यूरोप की देन नहीं थे। आधुनिक पूँजीवाद के उदय को समझने के लिए इन पूर्ववर्ती व्यापारिक व्यवस्थाओं और उनके क्रमिक परिवर्तन का अध्ययन भी आवश्यक है।

हालाँकि मध्यकालीन व्यापारिक नेटवर्कों का अस्तित्व अपने आप में यह सिद्ध नहीं करता कि आधुनिक पूँजीवाद पहले से विकसित हो चुका था। यह हमें केवल इतना समझने में मदद करता है कि पूँजीवाद का उदय पहले से मौजूद आर्थिक संपर्कों और संस्थाओं के रूपांतरण से भी जुड़ा था।

3.7 समग्र मूल्यांकन

उपर्युक्त इतिहासकारों के विचारों से स्पष्ट है कि पूँजीवाद के उदय के संबंध में कोई एक कारण सभी ऐतिहासिक परिस्थितियों की व्याख्या नहीं कर सकता।

- डॉब ने सामंती व्यवस्था के आंतरिक विरोधाभासों पर बल दिया।
- स्वीजी ने व्यापार और बाजार के विस्तार को महत्त्व दिया।
- ब्रेनर ने कृषि संबंधों और वर्ग-संरचना को निर्णायक माना।
- वालरस्टीन ने विश्व-व्यवस्था तथा वैश्विक श्रम-विभाजन पर ध्यान केंद्रित किया।
- ब्रॉडेल ने दीर्घकालीन व्यापारिक, वित्तीय और संस्थागत विकास का विश्लेषण किया।
- अबू-लुगोड ने यूरोपीय प्रभुत्व से पहले के अंतरक्षेत्रीय व्यापारिक नेटवर्कों की भूमिका को स्पष्ट किया।

इन दृष्टिकोणों का संयुक्त अध्ययन यह बताता है कि पूँजीवाद का उदय सामंती संबंधों में परिवर्तन, बाजारों के विस्तार, कृषि के व्यावसायीकरण, श्रम संबंधों के पुनर्गठन, वित्तीय संस्थाओं, राज्य की भूमिका और वैश्विक व्यापार के विकास से जुड़ी एक जटिल प्रक्रिया थी।

4. कृषि क्रांति और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन

पूँजीवाद के उदय की प्रक्रिया में कृषि संबंधों का परिवर्तन अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। औद्योगिक क्रांति से पहले ही यूरोप के कुछ क्षेत्रों में कृषि उत्पादन, भूमि-स्वामित्व, किरायेदारी और ग्रामीण श्रम के स्वरूप में उल्लेखनीय बदलाव होने लगे थे।

4.1 कृषि का व्यावसायीकरण

कृषि के व्यावसायीकरण का अर्थ है कृषि उत्पादन का केवल आत्मनिर्वाह के लिए न होकर बाजार में बिक्री और लाभ प्राप्ति से अधिकाधिक जुड़ना।

परंपरागत ग्रामीण समाज में किसान मुख्यतः अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन करते थे, यद्यपि वे बाजारों में भी भाग लेते थे। व्यावसायिक कृषि के विस्तार के साथ कुछ क्षेत्रों में किसान बाजार की माँग, कीमतों और प्रतिस्पर्धा को ध्यान में रखकर उत्पादन करने लगे।

अनाज, ऊन, पशुपालन और अन्य कृषि उत्पादों का उत्पादन क्षेत्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय बाजारों से जुड़ने लगा। इससे कृषि उत्पादन की पद्धतियों और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आया।

4.2 इंग्लैंड में घेराबंदी आंदोलन

इंग्लैंड में घेराबंदी आंदोलन (*Enclosure Movement*) पूँजीवादी कृषि के विकास की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया थी।

परंपरागत ग्रामीण व्यवस्था में कई क्षेत्रों के किसानों को साझा भूमि पर चराई, ईंधन संग्रहण और अन्य उपयोगों के अधिकार प्राप्त थे। घेराबंदी की प्रक्रिया में साझा भूमि तथा खुले खेतों को निजी स्वामित्व या नियंत्रित कृषि इकाइयों में संगठित किया गया।

इसके परिणाम विविध थे। कुछ बड़े भू-स्वामियों और व्यावसायिक किसानों को भूमि प्रबंधन तथा उत्पादन में अधिक नियंत्रण प्राप्त हुआ। कृषि उत्पादन में कुछ क्षेत्रों में दक्षता और बाजारोन्मुखता बढ़ी।

दूसरी ओर, अनेक छोटे किसानों और ग्रामीण परिवारों के लिए साझा संसाधनों तक पहुँच सीमित हुई। कुछ परिवारों को अपनी आजीविका बनाए रखने के लिए मजदूरी, किरायेदारी या अन्य रोजगारों पर अधिक निर्भर होना पड़ा।

हालाँकि सभी घेराबंदियाँ एक ही समय में नहीं हुईं और न ही सभी किसानों को समान रूप से भूमि से वंचित किया गया। यह प्रक्रिया लंबे समय तक चली तथा इसके क्षेत्रीय प्रभाव अलग-अलग थे।

4.3 कृषि उत्पादकता और तकनीकी परिवर्तन

कृषि में फसल चक्र, पशुपालन, बेहतर उपकरणों, जल-निकासी और भूमि प्रबंधन की विभिन्न पद्धतियों के विकास ने कुछ क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने में योगदान दिया।

अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटेन में कृषि सुधारों को विशेष महत्त्व मिला। बढ़ती जनसंख्या और बाजारों की माँग ने कृषि उत्पादन को अधिक संगठित करने की आवश्यकता उत्पन्न की।

कृषि में उत्पादकता बढ़ने से शहरों की बढ़ती जनसंख्या को भोजन उपलब्ध कराने में सहायता मिली। इससे औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक श्रम-शक्ति के विस्तार को भी समर्थन मिला।

लेकिन कृषि उत्पादकता में वृद्धि और पूँजीवादी संबंधों का विकास एक ही बात नहीं थे। किसी समाज में उत्पादन बढ़ सकता था, जबकि भूमि और श्रम संबंध पुराने स्वरूप में बने रह सकते थे। इसलिए कृषि परिवर्तन को सामाजिक संस्थाओं तथा बाजार संबंधों के साथ जोड़कर समझना आवश्यक है।

4.4 किसानों का मजदूर वर्ग में परिवर्तन

ग्रामीण समाज में भूमि-अधिकारों और आजीविका के साधनों में परिवर्तन के कारण कुछ किसान परिवारों की आर्थिक स्वतंत्रता सीमित हुई। जिन लोगों के पास पर्याप्त भूमि नहीं थी, उन्हें कृषि मजदूरी, घरेलू उद्योगों या शहरी रोजगार की ओर जाना पड़ा।

इससे ऐसे लोगों की संख्या बढ़ने में योगदान मिला जो जीविका के लिए अपनी श्रम-शक्ति बेचने पर निर्भर थे।

मार्क्सवादी इतिहासलेखन में इस प्रक्रिया को उत्पादन के साधनों से उत्पादकों के अलगाव और मजदूरी पर आधारित श्रम संबंधों के विस्तार से जोड़ा जाता है।

फिर भी यह परिवर्तन अचानक या सार्वभौमिक नहीं था। बहुत से किसान लंबे समय तक भूमि, घरेलू उत्पादन और मजदूरी को मिलाकर आजीविका चलाते रहे। पूँजीवादी श्रम संबंधों का विस्तार क्षेत्र और समय के अनुसार अलग-अलग गति से हुआ।

5. व्यापारिक क्रांति और वाणिज्यवाद का विकास

सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच यूरोप में व्यापारिक गतिविधियों का व्यापक विस्तार हुआ। इस प्रक्रिया को सामान्यतः व्यापारिक क्रांति (*Commercial Revolution*) कहा जाता है। इसने पूँजी के संचय, वित्तीय संस्थाओं, समुद्री व्यापार और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

5.1 समुद्री खोजें और नए व्यापारिक मार्ग

पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से यूरोपीय शक्तियों ने एशिया, अफ्रीका और अमेरिका की ओर समुद्री यात्राओं का विस्तार किया। 1492 में क्रिस्टोफर कोलंबस की अमेरिका यात्रा और 1498 में वास्को द गामा का भारत पहुँचना इस प्रक्रिया की प्रमुख घटनाएँ थीं।

इन यात्राओं के परिणामस्वरूप यूरोपीय शक्तियों के व्यापारिक नेटवर्क का विस्तार हुआ। अमेरिका से चाँदी, सोना, चीनी और तंबाकू जैसे उत्पाद यूरोपीय तथा वैश्विक व्यापार से जुड़े। एशिया के मसालों, वस्त्रों और अन्य वस्तुओं का व्यापार भी बढ़ा।

इन समुद्री संपर्कों ने यूरोप के कुछ व्यापारिक केंद्रों को वैश्विक अर्थव्यवस्था में अधिक प्रभावशाली बनाया। अटलांटिक महासागर से जुड़े बंदरगाहों का महत्त्व बढ़ने लगा और भूमध्यसागरीय व्यापार के पारंपरिक केंद्रों की सापेक्ष स्थिति में परिवर्तन आया।

हालाँकि इस विस्तार का मानवीय पक्ष अत्यंत हिंसक भी था। अमेरिका में यूरोपीय विजय, स्थानीय समाजों का विनाश, जबरन श्रम और अफ्रीकी दास व्यापार ने वैश्विक आर्थिक विस्तार को गहरे शोषण से जोड़ा।

5.2 वाणिज्यवाद का अर्थ

वाणिज्यवाद (*Mercantilism*) सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच यूरोप के अनेक राज्यों की आर्थिक नीतियों से जुड़ा विचार था। इसका कोई एक सर्वमान्य सिद्धांत नहीं था, लेकिन सामान्यतः इसके अंतर्गत राज्य की शक्ति बढ़ाने के लिए व्यापार, राजस्व, समुद्री शक्ति और औपनिवेशिक संसाधनों को महत्त्व दिया जाता था।

वाणिज्यवादी नीतियों में निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई देती हैं—

1. निर्यात को प्रोत्साहित करना।
2. आयात पर नियंत्रण अथवा शुल्क लगाना।

3. औपनिवेशिक व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करना।
4. बहुमूल्य धातुओं और राजकीय राजस्व को महत्त्व देना।
5. राष्ट्रीय नौसेना तथा व्यापारिक बेड़ों का विस्तार।
6. घरेलू उद्योगों को संरक्षण देना।
7. व्यापारिक कंपनियों को विशेषाधिकार प्रदान करना।

वाणिज्यवाद और पूँजीवाद को समान नहीं मानना चाहिए। वाणिज्यवाद मुख्यतः आर्थिक राष्ट्रवाद तथा राज्य-निर्देशित व्यापारिक नीतियों से संबंधित था, जबकि पूँजीवाद उत्पादन, निवेश, मजदूरी और पूँजी संचय की व्यापक व्यवस्था है।

फिर भी वाणिज्यवादी नीतियों ने अनेक क्षेत्रों में व्यापारिक पूँजी, वित्तीय संस्थाओं और औपनिवेशिक आर्थिक संबंधों के विकास को बढ़ावा दिया।

5.3 व्यापारिक कंपनियों का उदय

यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों ने पूँजीवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1600 में और डच ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1602 में हुई।

इन कंपनियों ने निवेशकों से पूँजी एकत्र की, समुद्री व्यापार का संचालन किया और दूरस्थ बाजारों में व्यापारिक नेटवर्क विकसित किए। विशेष रूप से संयुक्त पूँजी वाली कंपनियों ने बड़े पैमाने पर निवेश और जोखिम के वितरण की संभावनाएँ बढ़ाईं।

समय के साथ कुछ कंपनियाँ केवल व्यापार तक सीमित नहीं रहीं। उन्होंने राजनीतिक शक्ति, सैन्य बल और प्रशासनिक अधिकारों का उपयोग करके अपने आर्थिक हितों का विस्तार किया।

अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में व्यापारिक संस्था से राजनीतिक शक्ति में बदलना इसका महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। प्लासी के युद्ध (1757) और बक्सर के युद्ध (1764) के बाद कंपनी की राजनीतिक एवं राजस्व संबंधी शक्ति में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

इससे स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी विकास के इतिहास में व्यापारिक लाभ, राज्य की शक्ति और औपनिवेशिक नियंत्रण के बीच जटिल संबंध मौजूद थे।

5.4 बैंकिंग, ऋण और बीमा का विकास

बड़े पैमाने पर व्यापार करने के लिए पूँजी, ऋण, भुगतान की सुरक्षित व्यवस्था और जोखिम प्रबंधन आवश्यक थे। इन आवश्यकताओं ने बैंकिंग, बीमा, विनिमय-पत्रों तथा वित्तीय संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहित किया।

एम्स्टर्डम और लंदन जैसे नगर महत्त्वपूर्ण वित्तीय केंद्र बने। बैंकिंग व्यवस्था के विस्तार से व्यापारियों और उद्यमियों को आर्थिक गतिविधियों के लिए धन जुटाने में सहायता मिली।

1694 में बैंक ऑफ इंग्लैंड की स्थापना ब्रिटिश वित्तीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। इसके विकास ने राज्य के ऋण, वित्तीय बाजारों और सार्वजनिक वित्त के संगठन में योगदान दिया।

वित्तीय संस्थाओं के विस्तार से पूँजी का संचय तथा निवेश अधिक व्यवस्थित हुआ। इस प्रकार व्यापारिक क्रांति ने औद्योगिक पूँजीवाद के विकास के लिए कुछ आवश्यक आर्थिक आधार निर्मित किए।

6. औद्योगिक क्रांति और पूँजीवाद का विस्तार

पूँजीवाद के विकास में औद्योगिक क्रांति का विशेष महत्त्व है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रिटेन में आरंभ हुई औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन की तकनीक, श्रम के संगठन, ऊर्जा के उपयोग और आर्थिक जीवन की संरचना में व्यापक परिवर्तन किए।

6.1 औद्योगिक क्रांति का अर्थ

औद्योगिक क्रांति से आशय उस ऐतिहासिक प्रक्रिया से है जिसमें हस्तचालित उत्पादन तथा घरेलू उद्योगों की तुलना में मशीनों, कारखानों और नई ऊर्जा प्रणालियों पर आधारित उत्पादन का विस्तार हुआ।

इस प्रक्रिया में उत्पादन की मात्रा बढ़ी, श्रम का संगठन बदला, वस्तुओं की लागत में कई क्षेत्रों में कमी आई और बाजारों का विस्तार हुआ।

औद्योगिक क्रांति किसी एक आविष्कार या वर्ष में पूरी नहीं हुई। यह कई दशकों तक चलने वाली प्रक्रिया थी, जिसमें तकनीकी नवाचार, पूँजी निवेश, श्रम की उपलब्धता, परिवहन और बाजार की माँग ने परस्पर प्रभाव डाला।

6.2 औद्योगिक क्रांति के प्रमुख कारण

पहला, कृषि में परिवर्तन: कृषि उत्पादन में सुधार और ग्रामीण सामाजिक संबंधों के पुनर्गठन ने कुछ क्षेत्रों में खाद्य आपूर्ति तथा श्रमिकों की उपलब्धता को प्रभावित किया।

दूसरा, पूँजी का संचय: व्यापार, वित्त, कृषि और औपनिवेशिक गतिविधियों से प्राप्त पूँजी ने मशीनों, कारखानों तथा परिवहन में निवेश की संभावनाएँ बढ़ाईं।

तीसरा, कच्चे माल की उपलब्धता: ब्रिटेन के औद्योगिक विकास में कपास, कोयला और लौह अयस्क जैसे संसाधनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। अटलांटिक दास-आधारित बागान अर्थव्यवस्था से प्राप्त कपास ने ब्रिटिश कपड़ा उद्योग को भी कच्चा माल उपलब्ध कराया।

चौथा, बाजारों का विस्तार: जनसंख्या वृद्धि, घरेलू बाजार और विदेशी व्यापार ने औद्योगिक वस्तुओं की माँग को बढ़ाया।

पाँचवाँ, तकनीकी नवाचार: कताई, बुनाई, भाप की शक्ति और लौह उत्पादन में हुए परिवर्तनों ने उत्पादन क्षमता में वृद्धि की।

छठा, परिवहन का विकास: नहरों, सड़कों, बंदरगाहों और बाद में रेलवे के विकास ने कच्चे माल तथा तैयार वस्तुओं के परिवहन को अधिक सुविधाजनक बनाया।

सातवाँ, संस्थागत परिस्थितियाँ: संपत्ति के अधिकार, व्यापारिक संस्थाओं, वित्तीय बाजारों और राज्य की नीतियों ने भी निवेश तथा उत्पादन के विकास को प्रभावित किया।

इन कारणों में से किसी एक को औद्योगिक क्रांति का सार्वभौमिक कारण नहीं माना जा सकता। ब्रिटेन का अनुभव विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम था।

6.3 वस्त्र उद्योग और मशीनों का प्रयोग

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति का आरंभ मुख्यतः कपड़ा उद्योग में दिखाई देता है। कताई और बुनाई की नई मशीनों ने वस्त्र उत्पादन की गति तथा मात्रा में वृद्धि की।

1733 में जॉन के की फ्लाइंग शटल, 1760 के दशक में जेम्स हारग्रीव्स से संबंधित स्पिनिंग जेनी, रिचर्ड आर्कराइट की वाटर फ्रेम तथा सैमुअल क्रॉम्पटन की म्यूल जैसी तकनीकों ने कपड़ा उत्पादन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए।

इन तकनीकों से उत्पादन का संगठन धीरे-धीरे घरेलू कार्यशालाओं से कारखानों की ओर बढ़ा। उत्पादन की प्रक्रिया में मशीनों, श्रमिकों और समय का अधिक संगठित उपयोग होने लगा।

हालाँकि घरेलू उद्योग तत्काल समाप्त नहीं हुए। अनेक क्षेत्रों में कारखानों और घरेलू उत्पादन की व्यवस्थाएँ लंबे समय तक साथ-साथ चलती रहीं।

6.4 भाप इंजन और ऊर्जा में परिवर्तन

भाप इंजन के विकास ने औद्योगिक उत्पादन तथा परिवहन को नई दिशा दी। थॉमस न्यूकॉमन ने 1712 में एक व्यावहारिक भाप इंजन विकसित किया, जिसका उपयोग मुख्यतः खदानों से पानी निकालने के लिए किया गया। जेम्स वाट ने अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसमें महत्त्वपूर्ण सुधार किए।

भाप की शक्ति के व्यापक उपयोग से कारखानों को जलधाराओं के निकट स्थित होने की अनिवार्यता कुछ कम हुई। ऊर्जा के उपयोग में परिवर्तन ने उत्पादन के विस्तार में योगदान दिया।

बाद में भाप इंजनों का उपयोग रेल परिवहन तथा समुद्री जहाजों में भी बढ़ा। इससे वस्तुओं, श्रमिकों और कच्चे माल की आवाजाही अधिक तेज हुई।

6.5 कारखाना प्रणाली का विकास

औद्योगिक क्रांति से पहले अनेक वस्तुओं का उत्पादन घरेलू उद्योगों, छोटे कार्यशालाओं और कारीगरों के माध्यम से होता था। कारखाना प्रणाली के विस्तार के साथ मशीनें, उत्पादन के साधन और श्रमिक एक स्थान पर संगठित होने लगे।

कारखाना व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ थीं—

- उत्पादन के साधनों पर मालिक का नियंत्रण।
- निश्चित समय-सारिणी के अनुसार काम।
- श्रम का विभाजन और कार्यों का विशेषीकरण।
- मशीनों पर आधारित उत्पादन।
- मजदूरी के बदले श्रम।
- उत्पादन और लागत पर अधिक व्यवस्थित नियंत्रण।

कारखाना प्रणाली ने उत्पादन की क्षमता बढ़ाई, लेकिन श्रमिकों के दैनिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव डाला। श्रमिकों को लंबे कार्यदिवस, कठोर अनुशासन और कई बार असुरक्षित परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था।

इस प्रकार औद्योगिक क्रांति ने पूँजीवादी उत्पादन को अधिक संगठित तथा व्यापक बनाया, लेकिन इसके साथ श्रम और पूँजी के बीच नए तनाव भी विकसित हुए।

7. पूँजीवाद के उदय के साथ बदलता सामाजिक ढाँचा

पूँजीवाद के विकास ने यूरोपीय समाज की वर्ग-संरचना, सामाजिक गतिशीलता, पारिवारिक जीवन और सामुदायिक संबंधों में व्यापक परिवर्तन किए।

सामंती समाज में भूमि, जन्म और परंपरागत अधिकार सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रमुख आधार थे। पूँजीवादी समाज में संपत्ति, व्यवसाय, शिक्षा, रोजगार और बाजार में व्यक्ति की स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण होने लगी।

हालाँकि इसका अर्थ यह नहीं है कि जन्म, जातीयता, लिंग अथवा पारिवारिक पृष्ठभूमि का प्रभाव समाप्त हो गया। आधुनिक समाज में भी इन कारकों ने अवसरों और संसाधनों के वितरण को प्रभावित किया।

7.1 पूँजीपति वर्ग का उदय

पूँजीवादी विकास के साथ व्यापारियों, उद्योगपतियों, बैंकरों और निवेशकों का आर्थिक प्रभाव बढ़ा। इस वर्ग को सामान्यतः पूँजीपति वर्ग कहा जाता है।

पूँजीपति वर्ग की संपत्ति भूमि के अतिरिक्त व्यापार, कारखानों, मशीनों, वित्तीय निवेश और उत्पादन के अन्य साधनों से जुड़ी थी।

औद्योगिक क्रांति के दौरान उद्योगपतियों ने उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण स्थापित किया और श्रमिकों को मजदूरी देकर उत्पादन का विस्तार किया। उनके आर्थिक प्रभाव ने राजनीतिक संस्थाओं तथा सार्वजनिक नीतियों को भी प्रभावित किया।

हालाँकि पूँजीपति वर्ग एक समान समूह नहीं था। छोटे व्यापारी, बड़े उद्योगपति, वित्तीय पूँजीपति और व्यावसायिक उद्यमी आर्थिक शक्ति तथा हितों के मामले में अलग-अलग हो सकते थे।

7.2 मजदूर वर्ग का उदय

औद्योगिक पूँजीवाद के विकास के साथ मजदूरी पर निर्भर श्रमिकों की संख्या बढ़ी। इस वर्ग को सामान्यतः सर्वहारा या औद्योगिक मजदूर वर्ग कहा जाता है।

श्रमिकों के पास प्रायः उत्पादन के प्रमुख साधनों का स्वामित्व नहीं था। उन्हें जीविका के लिए अपनी श्रम-शक्ति को मजदूरी के बदले बेचने पर निर्भर रहना पड़ता था।

कारखानों में श्रमिकों का काम मशीनों, समय-सारिणी और प्रबंधकीय नियंत्रण से निर्धारित होने लगा। कई श्रमिकों को लंबे कार्यदिवस, कम मजदूरी, असुरक्षित कार्यस्थलों और रोजगार की अनिश्चितता का सामना करना पड़ता था।

इसके बावजूद औद्योगिक श्रमिकों की स्थिति सभी क्षेत्रों और कालखंडों में एक जैसी नहीं थी। कुशल श्रमिकों, अकुशल मजदूरों, महिलाओं और बच्चों की परिस्थितियों में उल्लेखनीय अंतर था।

7.3 मध्यम वर्ग का विस्तार

पूँजीवादी समाज में मध्यम वर्ग का विस्तार भी एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था। इसमें दुकानदार, छोटे व्यापारी, शिक्षक, वकील, लेखाकार, प्रबंधक, सरकारी कर्मचारी और अन्य वेतनभोगी पेशेवर शामिल होने लगे।

शिक्षा और व्यावसायिक योग्यता ने सामाजिक गतिशीलता के नए अवसर प्रदान किए। नगरों में कार्यालयों, दुकानों, परिवहन, बैंकिंग और प्रशासन से जुड़े रोजगारों का विस्तार हुआ।

मध्यम वर्ग ने शिक्षा, व्यक्तिगत उपलब्धि, संपत्ति, अनुशासन और सामाजिक प्रतिष्ठा के नए आदर्शों को बढ़ावा दिया। हालांकि मध्यम वर्ग के भीतर आय, संपत्ति और सामाजिक प्रभाव के आधार पर बड़े अंतर मौजूद रहे।

7.4 ग्रामीण समाज से नगरीय समाज की ओर परिवर्तन

औद्योगिक विकास ने नगरों की जनसंख्या बढ़ाने में योगदान दिया। रोजगार की तलाश में ग्रामीण क्षेत्रों से लोग औद्योगिक केंद्रों की ओर जाने लगे।

मैनचेस्टर, बर्मिंघम और लिवरपूल जैसे ब्रिटिश नगर औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास के प्रमुख केंद्र बने। नगरों में कारखानों, परिवहन, बाजारों और श्रमिक बस्तियों का विस्तार हुआ।

नगरीकरण ने सामाजिक संबंधों को भी प्रभावित किया। ग्रामीण समाज में परिवार, गाँव और स्थानीय समुदाय की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी, जबकि नगरों में व्यक्ति को अपेक्षाकृत विविध सामाजिक समूहों और आर्थिक संबंधों से जुड़ने के अवसर मिले।

लेकिन तेजी से बढ़ते नगरों में आवास की कमी, अस्वच्छता, प्रदूषण और श्रमिक बस्तियों की खराब परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हुईं।

7.5 परिवार और महिलाओं की स्थिति

पूँजीवादी विकास ने परिवार के आर्थिक कार्यों तथा महिलाओं के श्रम के स्वरूप में परिवर्तन किया।

घरेलू उत्पादन से कारखानों की ओर बदलाव ने कुछ क्षेत्रों में उत्पादन और घरेलू जीवन के बीच अंतर को बढ़ाया। परिवार के सदस्य अलग-अलग प्रकार के रोजगारों में काम करने लगे।

महिलाओं ने कृषि, घरेलू उद्योगों, वस्त्र कारखानों और सेवा संबंधी कार्यों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। कई परिवारों की आय महिलाओं और बच्चों के श्रम पर निर्भर थी।

हालाँकि महिलाओं को अक्सर पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी दी जाती थी और उनके काम को कम महत्त्व दिया जाता था। घरेलू कार्यों की जिम्मेदारी भी बड़े पैमाने पर महिलाओं पर बनी रही।

इस प्रकार पूँजीवाद ने महिलाओं के लिए रोजगार के नए अवसर पैदा किए, लेकिन साथ ही श्रम बाजार में लैंगिक असमानताओं को भी बनाए रखा और कई बार नए रूप दिए।

7.6 बच्चों का श्रम और श्रमिक परिवार

प्रारंभिक औद्योगिक पूँजीवाद में बच्चों का श्रम व्यापक रूप से उपयोग किया गया। वस्त्र कारखानों, खदानों और अन्य उद्योगों में बच्चों को कम मजदूरी पर काम कराया जाता था।

लंबे कार्यदिवस, दुर्घटनाओं का जोखिम और शिक्षा से वंचित रहने की स्थिति ने बच्चों के जीवन को प्रभावित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में श्रमिक आंदोलनों, सामाजिक सुधारकों और सार्वजनिक बहसों के प्रभाव से बाल श्रम पर नियंत्रण तथा कार्य परिस्थितियों में सुधार के लिए कानून बनाए जाने लगे।

इन परिवर्तनों से स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी समाज में श्रम की समस्याओं को लेकर राज्य, समाज और श्रमिक संगठनों के बीच संघर्ष तथा सुधार की प्रक्रिया भी विकसित हुई।

8. बदलता आर्थिक ढाँचा : उत्पादन, बाजार और श्रम

पूँजीवाद के उदय ने आर्थिक गतिविधियों के संगठन को मूल रूप से बदल दिया। उत्पादन के उद्देश्य, निवेश की पद्धति, श्रम का स्वरूप और वस्तुओं के वितरण की प्रणाली में व्यापक परिवर्तन हुए।

8.1 आत्मनिर्वाह से बाजारोन्मुख उत्पादन की ओर

कृषि प्रधान समाजों में अनेक परिवार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन करते थे। वे बाजार में भी भाग लेते थे, लेकिन उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा स्थानीय आवश्यकताओं और पारंपरिक दायित्वों से जुड़ा रहता था।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन का बढ़ता हिस्सा बाजार में बिक्री के लिए किया जाने लगा। उत्पादकों को कीमतों, प्रतिस्पर्धा, उपभोक्ता माँग और उत्पादन लागत पर अधिक ध्यान देना पड़ा।

इससे उत्पादन की प्रक्रिया बाजार के उतार-चढ़ाव से अधिक प्रभावित होने लगी। बाजार में माँग बढ़ने पर उत्पादन का विस्तार और कीमतें गिरने पर उत्पादन में कमी जैसी स्थितियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गईं।

8.2 पूँजी संचय और पुनर्निवेश

पूँजीवाद की प्रमुख विशेषता लाभ का एक हिस्सा पुनः निवेश करके उत्पादन का विस्तार करना है।

उदाहरण के लिए, यदि कोई उद्यमी वस्त्र उद्योग से लाभ अर्जित करता है, तो वह उस लाभ से नई मशीनें खरीद सकता है, कारखाने का विस्तार कर सकता है अथवा नए बाजारों में प्रवेश कर सकता है।

इस प्रक्रिया से पूँजी और उत्पादन के बीच एक चक्र विकसित होता है। निवेश उत्पादन को बढ़ाता है, उत्पादन से लाभ प्राप्त होता है और लाभ का पुनर्निवेश आगे आर्थिक विस्तार को प्रोत्साहित करता है।

हालाँकि पुनर्निवेश हमेशा समान रूप से नहीं होता। लाभ का वितरण, बाजार की माँग, ऋण की उपलब्धता और राजनीतिक परिस्थितियाँ यह निर्धारित करती हैं कि पूँजी किस क्षेत्र में निवेश की जाएगी।

8.3 श्रम का विभाजन और विशेषज्ञता

औद्योगिक उत्पादन में श्रम का विभाजन महत्त्वपूर्ण हो गया। उत्पादन की पूरी प्रक्रिया एक व्यक्ति द्वारा पूरी करने के बजाय उसे अलग-अलग चरणों में बाँटा जाने लगा।

उदाहरण के लिए, वस्त्र उत्पादन में कताई, बुनाई, रंगाई और तैयार वस्त्रों के निर्माण के अलग-अलग कार्य विकसित हुए।

श्रम विभाजन से उत्पादन की गति और दक्षता में वृद्धि हो सकती थी। लेकिन इससे कई श्रमिकों का काम सीमित तथा दोहरावपूर्ण भी बन गया।

इस प्रकार श्रम का विभाजन एक ओर उत्पादकता बढ़ाने का साधन था, तो दूसरी ओर कार्य पर श्रमिकों के नियंत्रण में कमी का कारण भी बन सकता था।

8.4 बाजार और प्रतिस्पर्धा

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादकों को वस्तुओं की कीमत, गुणवत्ता, उत्पादन लागत और बाजार की माँग का ध्यान रखना पड़ता है।

प्रतिस्पर्धा उद्यमियों को नई तकनीक अपनाने, लागत कम करने और उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रेरित कर सकती है।

लेकिन बाजार की प्रतिस्पर्धा हमेशा पूर्ण या समान नहीं होती। बड़े उद्यमियों के पास अधिक पूँजी, तकनीक और बाजार तक पहुँच होने के कारण वे छोटे उत्पादकों की तुलना में लाभकारी स्थिति में रह सकते हैं।

कुछ क्षेत्रों में बड़ी कंपनियाँ बाजार पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती हैं। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा और आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ दिखाई दे सकती हैं।

8.5 परिवहन और संचार का विकास

रेलवे, भाप के जहाज, नहरों और बाद में तार-संचार ने आर्थिक गतिविधियों के विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

रेलवे से कच्चे माल को कारखानों तक और तैयार वस्तुओं को बाजारों तक पहुँचाना अधिक आसान हुआ। भाप के जहाजों ने समुद्री व्यापार की गति और क्षमता को बढ़ाया।

संचार के साधनों के विकास से व्यापारिक जानकारी, कीमतों और बाजार की परिस्थितियों के बारे में तेजी से जानकारी प्राप्त करना संभव हुआ।

इन परिवर्तनों ने क्षेत्रीय बाजारों को व्यापक राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय बाजारों से जोड़ने में योगदान दिया।

9. उपनिवेशवाद, दास व्यापार और पूँजीवादी विकास

पूँजीवाद के उदय पर होने वाली बहसों में उपनिवेशवाद और दास व्यापार का विशेष महत्व है। यूरोपीय आर्थिक विस्तार का एक बड़ा हिस्सा अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के साथ असमान राजनीतिक एवं आर्थिक संबंधों से जुड़ा था।

9.1 अमेरिका का उपनिवेशीकरण

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से यूरोपीय शक्तियों ने अमेरिका के विशाल क्षेत्रों पर नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया।

स्पेन और पुर्तगाल के बाद ब्रिटेन, फ्रांस तथा नीदरलैंड जैसी शक्तियों ने भी उपनिवेश स्थापित किए। इन क्षेत्रों से सोना, चाँदी, चीनी, तंबाकू, कपास और अन्य वस्तुएँ यूरोपीय तथा वैश्विक बाजारों तक पहुँचाई गईं।

उपनिवेशीकरण के दौरान स्थानीय समाजों पर हिंसा, भूमि से विस्थापन, जबरन श्रम और संक्रामक रोगों का विनाशकारी प्रभाव पड़ा।

अमेरिका से प्राप्त चाँदी ने यूरोप और एशिया के बीच व्यापार को प्रभावित किया। औपनिवेशिक कृषि तथा खनन ने यूरोपीय व्यापारिक पूँजी के विस्तार में योगदान दिया।

9.2 अटलांटिक दास व्यापार

अटलांटिक दास व्यापार पूँजीवाद के इतिहास का अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अमानवीय पक्ष था। लाखों अफ्रीकी लोगों को जबरन पकड़कर या खरीदकर अमेरिका के बागानों तथा अन्य श्रम क्षेत्रों में ले जाया गया।

दास बनाए गए लोगों से चीनी, तंबाकू, कॉफी और कपास जैसी वस्तुओं के उत्पादन में काम कराया गया। इस उत्पादन का एक हिस्सा यूरोप और अन्य क्षेत्रों के बाजारों तक पहुँचाया जाता था।

दास व्यापार से जुड़े व्यापारी, जहाज मालिक, बीमा कंपनियाँ और बागान मालिक आर्थिक लाभ अर्जित करते थे। दासता ने कुछ क्षेत्रों में श्रम लागत और उत्पादन के संगठन को इस प्रकार प्रभावित किया कि औपनिवेशिक वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन संभव हुआ।

इतिहासकार एरिक विलियम्स ने अपनी पुस्तक *Capitalism and Slavery* (1944) में ब्रिटिश पूँजीवादी विकास और दास व्यापार के बीच संबंधों का विश्लेषण किया। उन्होंने दासता से प्राप्त लाभ और औद्योगिक विकास के बीच संबंधों पर विशेष बल दिया।

इस विषय पर इतिहासकारों में बहस जारी है कि दास व्यापार से प्राप्त लाभ ने औद्योगिक क्रांति के वित्तपोषण में कितना योगदान दिया। फिर भी यह निर्विवाद है कि अटलांटिक दास व्यापार और दास-आधारित बागान अर्थव्यवस्था ने आधुनिक वैश्विक अर्थव्यवस्था के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और असाधारण मानवीय पीड़ा उत्पन्न की।

9.3 भारत और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था

भारत का यूरोप तथा एशिया के साथ व्यापारिक संपर्क आधुनिक औपनिवेशिक काल से बहुत पहले से मौजूद था। भारतीय वस्त्र, मसाले और अन्य उत्पाद अंतरराष्ट्रीय बाजारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे।

यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों के आगमन और बाद में ब्रिटिश राजनीतिक नियंत्रण के विस्तार ने भारत की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने व्यापार के साथ-साथ राजस्व वसूली और राजनीतिक सत्ता के माध्यम से अपने आर्थिक हितों को मजबूत किया। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय कृषि, शिल्प और व्यापार औपनिवेशिक नीतियों के प्रभाव में आए।

औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत से कच्चे माल का निर्यात, ब्रिटेन से निर्मित वस्तुओं का आयात और राजस्व के माध्यम से संसाधनों का हस्तांतरण महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएँ थीं।

भारतीय वस्त्र उद्योग के कुछ पारंपरिक क्षेत्रों को ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादन से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। हालांकि भारतीय उद्योगों का पतन सभी क्षेत्रों में एक समान नहीं था और इसके कारणों को समझने के लिए तकनीकी परिवर्तन, व्यापार नीति, कराधान, परिवहन और बाजार की परिस्थितियों का संयुक्त अध्ययन आवश्यक है।

दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक *Poverty and Un-British Rule in India* (1901) में औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत भारत से संसाधनों के निष्कासन की आलोचना की। उनकी 'धन-निष्कासन' की अवधारणा ने औपनिवेशिक आर्थिक शोषण की बहस को महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान किया।

9.4 पूँजीवाद और औपनिवेशिक असमानता

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने विश्व के विभिन्न क्षेत्रों को असमान आर्थिक संबंधों में जोड़ दिया। कुछ क्षेत्रों में उद्योग, वित्त और व्यापार का विस्तार हुआ, जबकि अन्य क्षेत्रों को कच्चे माल की आपूर्ति और कृषि उत्पादन की ओर अधिक उन्मुख किया गया।

इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आधुनिक वैश्विक अर्थव्यवस्था में आर्थिक शक्ति का वितरण असमान बना रहा।

फिर भी उपनिवेशवाद और पूँजीवाद को एक ही घटना नहीं माना जाना चाहिए। पूँजीवादी विकास के अनेक रूप ऐसे भी थे जो औपनिवेशिक शासन से अलग परिस्थितियों में विकसित हुए। दूसरी ओर, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्थाएँ भी स्थानीय समाजों, संस्थाओं और उत्पादन संबंधों से प्रभावित होती थीं।

इसलिए पूँजीवाद के इतिहास को समझने के लिए वैश्विक आर्थिक संबंधों के साथ-साथ स्थानीय परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है।

10. पूँजीवाद, राज्य और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था

पूँजीवाद के विकास ने आधुनिक राज्य की भूमिका को समाप्त नहीं किया, बल्कि अनेक क्षेत्रों में उसे नए रूप में विकसित किया।

10.1 आधुनिक राष्ट्र-राज्य का विकास

प्रारंभिक आधुनिक यूरोप में कई राज्यों ने प्रशासन, कराधान, सेना और न्यायिक संस्थाओं को अधिक संगठित किया। राजकीय केंद्रीकरण ने व्यापार, परिवहन, मुद्रा और संपत्ति संबंधों को प्रभावित किया।

राज्य ने बंदरगाहों, सड़कों, नहरों तथा अन्य बुनियादी ढाँचों के विकास में योगदान दिया। व्यापारिक नियमों, करों और कानूनी व्यवस्थाओं ने आर्थिक गतिविधियों की परिस्थितियों को प्रभावित किया।

कुछ राज्यों ने व्यापारिक कंपनियों को विशेषाधिकार दिए, जबकि अन्य ने घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया।

इस प्रकार आधुनिक पूँजीवाद का विकास बाजार और राज्य के परस्पर संबंधों से जुड़ा रहा।

10.2 उदारवाद और निजी संपत्ति

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यूरोप में उदारवादी राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों का विकास हुआ। जॉन लॉक ने संपत्ति के अधिकार और शासन की वैधता पर विचार प्रस्तुत किए। एडम स्मिथ ने श्रम विभाजन, बाजार और आर्थिक विकास का विश्लेषण किया।

एडम स्मिथ की पुस्तक *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations* 1776 में प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने श्रम विभाजन और बाजार के विस्तार को आर्थिक विकास के महत्त्वपूर्ण आधारों के रूप में समझाया।

स्मिथ ने आर्थिक गतिविधियों में प्रतिस्पर्धा और व्यक्तियों के आर्थिक हितों की भूमिका पर बल दिया, लेकिन उन्हें पूर्णतः राज्य-विरोधी विचारक के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है। उन्होंने न्याय, सार्वजनिक कार्यों, शिक्षा और कुछ अन्य क्षेत्रों में राज्य की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण माना।

उदारवादी विचारों के विस्तार से निजी संपत्ति, अनुबंध, आर्थिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत अधिकारों पर आधारित आधुनिक संस्थाओं को वैचारिक समर्थन मिला।

10.3 फ्रांसीसी क्रांति और सामंती विशेषाधिकारों का अंत

1789 की फ्रांसीसी क्रांति ने फ्रांस की राजनीतिक तथा सामाजिक संरचना में गहरा परिवर्तन किया। क्रांति के दौरान सामंती विशेषाधिकारों पर प्रहार हुआ और नागरिक समानता, स्वतंत्रता तथा राष्ट्र की संप्रभुता जैसे विचारों को महत्त्व मिला।

क्रांति के विभिन्न चरणों और नेपोलियन काल के दौरान संपत्ति, कानून तथा प्रशासन की संस्थाओं में परिवर्तन हुए।

इन परिवर्तनों ने उन परिस्थितियों को मजबूत करने में योगदान दिया जिनमें आर्थिक गतिविधियाँ पारंपरिक सामंती विशेषाधिकारों से अपेक्षाकृत स्वतंत्र हो सकती थीं।

फिर भी फ्रांसीसी क्रांति को केवल पूँजीपति वर्ग की क्रांति मानना पर्याप्त नहीं है। इसमें किसानों, शहरी श्रमिकों, मध्यम वर्ग और अन्य सामाजिक समूहों की अलग-अलग भूमिकाएँ तथा आकांक्षाएँ थीं।

10.4 कानून, संपत्ति और अनुबंध

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में संपत्ति के अधिकार, अनुबंधों का प्रवर्तन और आर्थिक विवादों के समाधान के लिए कानूनी संस्थाएँ आवश्यक हैं।

इन संस्थाओं के माध्यम से भूमि, मशीनों, वस्तुओं और वित्तीय संसाधनों का हस्तांतरण अधिक व्यवस्थित हो सकता है। श्रम अनुबंध और व्यापारिक समझौते उत्पादन तथा विनिमय के संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

हालाँकि कानूनी समानता हमेशा आर्थिक समानता सुनिश्चित नहीं करती। संपत्ति और संसाधनों में बड़े अंतर के कारण विभिन्न पक्षों की वास्तविक सौदेबाजी की क्षमता असमान हो सकती है।

इस प्रकार आधुनिक कानून ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास को समर्थन दिया, लेकिन आर्थिक शक्ति के वितरण संबंधी प्रश्न बने रहे।

11. पूँजीवाद की आलोचना : मार्क्सवादी दृष्टिकोण

पूँजीवाद की आलोचना में कार्ल मार्क्स का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था को केवल आर्थिक विकास की प्रणाली के रूप में नहीं, बल्कि वर्ग-संबंधों, श्रम और सामाजिक शक्ति के विशिष्ट संगठन के रूप में समझा।

11.1 उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व

मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व मुख्यतः पूँजीपति वर्ग के पास केंद्रित होता है।

श्रमिकों के पास अपनी जीविका चलाने के लिए प्रायः पर्याप्त उत्पादन साधन नहीं होते। इसलिए वे अपनी श्रम-शक्ति को मजदूरी के बदले बेचते हैं।

यह संबंध पूँजीवादी उत्पादन की मूल विशेषताओं में से एक है। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व पूँजीपतियों को उत्पादन संबंधी निर्णयों और लाभ के वितरण पर प्रभाव प्रदान करता है।

11.2 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया कि पूँजीवादी उत्पादन में लाभ किस प्रकार उत्पन्न होता है।

उनके विश्लेषण के अनुसार श्रमिक की श्रम-शक्ति का उपयोग उत्पादन में ऐसे मूल्य के सृजन के लिए किया जा सकता है जो श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के मूल्य से अधिक हो। इस अंतर को मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के रूप में समझाते हैं।

मार्क्स के लिए यह केवल मजदूरी के स्तर का प्रश्न नहीं था, बल्कि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और श्रम पर नियंत्रण से संबंधित संरचनात्मक प्रश्न था।

हालाँकि आधुनिक अर्थशास्त्र में लाभ की व्याख्या के अनेक अन्य सिद्धांत भी मौजूद हैं। इसलिए अतिरिक्त मूल्य को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की विशिष्ट अवधारणा के रूप में समझना चाहिए।

11.3 वर्ग-संघर्ष

मार्क्स के अनुसार पूँजीपति और मजदूर वर्ग के हितों में संरचनात्मक विरोध मौजूद है। पूँजीपति उत्पादन लागत नियंत्रित करके लाभ बढ़ाना चाहता है, जबकि श्रमिक बेहतर मजदूरी, सुरक्षित कार्यस्थल और कम कार्यदिवस की माँग कर सकते हैं।

इन विरोधी हितों से श्रमिक आंदोलनों, हड़तालों, ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक संघर्षों का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के अनेक औद्योगिक नगरों में श्रमिक संगठन मजबूत हुए। उन्होंने श्रमिकों के अधिकारों, मतदान के अधिकार और सामाजिक सुधारों के लिए संघर्ष किया।

11.4 अलगाव की अवधारणा

मार्क्स ने पूँजीवादी उत्पादन में श्रमिक के अलगाव की अवधारणा भी प्रस्तुत की।

उनके अनुसार श्रमिक कई बार अपने द्वारा उत्पादित वस्तु, उत्पादन प्रक्रिया, अन्य मनुष्यों और अपनी रचनात्मक क्षमता से अलगाव का अनुभव कर सकता है।

जब उत्पादन पर श्रमिक का नियंत्रण सीमित हो जाता है और उसका काम बाहरी अनुशासन तथा बाजार की आवश्यकताओं से निर्धारित होता है, तो श्रम का मानवीय पक्ष प्रभावित हो सकता है।

यह अवधारणा औद्योगिक समाज में कार्य की प्रकृति, श्रमिक की स्वतंत्रता और उत्पादन के सामाजिक संगठन को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

11.5 पूँजीवाद के अंतर्विरोध

मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसे अंतर्विरोधों की पहचान की जो आर्थिक संकटों, असमानता और वर्ग-संघर्ष को जन्म दे सकते हैं।

उनके विश्लेषण में उत्पादन का विस्तार, लाभ की प्रतिस्पर्धा और पूँजी का केंद्रीकरण महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएँ हैं।

पूँजीवादी इतिहास में आर्थिक मंदी, बेरोजगारी और वित्तीय संकटों की अनेक घटनाएँ हुई हैं। हालाँकि इन संकटों के कारणों की व्याख्या करने के लिए आधुनिक अर्थशास्त्र में विभिन्न सिद्धांत मौजूद हैं।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण का महत्त्व इस बात में है कि वह आर्थिक विकास के साथ-साथ संपत्ति, शक्ति और संसाधनों के वितरण पर भी ध्यान केंद्रित करता है।

12. पूँजीवाद के सामाजिक परिणाम और सुधार आंदोलन

पूँजीवाद के विकास ने उत्पादन तथा रोजगार के अवसर बढ़ाए, लेकिन इसके साथ अनेक सामाजिक समस्याएँ भी सामने आईं। औद्योगिक समाज में श्रमिकों की परिस्थितियों, नगरीकरण, गरीबी और आर्थिक असमानता ने सामाजिक सुधारों तथा राजनीतिक आंदोलनों को जन्म दिया।

12.1 श्रमिकों की कार्य परिस्थितियाँ

प्रारंभिक औद्योगिक काल में कई कारखानों में कार्यदिवस लंबे होते थे। श्रमिकों को मशीनों के साथ लगातार काम करना पड़ता था और सुरक्षा के पर्याप्त उपाय उपलब्ध नहीं होते थे।

महिलाओं तथा बच्चों का श्रम भी अनेक उद्योगों में व्यापक रूप से उपयोग किया जाता था।

इन परिस्थितियों के विरुद्ध श्रमिकों ने संगठन बनाए और बेहतर मजदूरी, कम कार्यदिवस तथा सुरक्षित कार्यस्थलों की माँग की।

12.2 ट्रेड यूनियनों का विकास

ट्रेड यूनियन श्रमिकों के सामूहिक हितों की रक्षा करने वाले संगठन हैं। औद्योगिक समाज में इनका विकास श्रमिकों की सौदेबाजी की क्षमता बढ़ाने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बना।

ट्रेड यूनियनों ने मजदूरी, कार्यदिवस, रोजगार की सुरक्षा और कार्यस्थल की परिस्थितियों में सुधार के लिए संघर्ष किया।

इन आंदोलनों के परिणामस्वरूप अनेक देशों में श्रम कानूनों, सामाजिक सुरक्षा और सामूहिक सौदेबाजी की व्यवस्थाओं का विकास हुआ।

12.3 समाजवादी विचारधारा का उदय

पूँजीवादी व्यवस्था में असमानता और श्रमिकों की समस्याओं ने समाजवादी विचारों के विकास को प्रोत्साहित किया।

प्रारंभिक समाजवादियों में रॉबर्ट ओवेन, चार्ल्स फूरिये और सेंट-साइमन के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों ने सहयोग, सामाजिक सुधार और उत्पादन के वैकल्पिक संगठन पर विचार प्रस्तुत किए।

बाद में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने पूँजीवादी समाज की आलोचना का व्यवस्थित सिद्धांत विकसित किया।

समाजवादी विचारधारा ने श्रम, संपत्ति, समानता और सामाजिक न्याय से जुड़े प्रश्नों को राजनीतिक विमर्श के केंद्र में लाने में योगदान दिया।

12.4 राज्य के हस्तक्षेप का विस्तार

औद्योगिक समाज में श्रमिकों की समस्याओं तथा सामाजिक आंदोलनों के प्रभाव से कई देशों में राज्य की भूमिका बदली।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में विभिन्न देशों ने कारखानों की परिस्थितियों, बाल श्रम, कार्यदिवस और श्रमिक सुरक्षा से संबंधित कानून बनाए।

बीसवीं शताब्दी में अनेक देशों में सामाजिक सुरक्षा, सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और बेरोजगारी सहायता की व्यवस्थाओं का विस्तार हुआ।

इससे स्पष्ट होता है कि पूँजीवाद का इतिहास केवल बाजार की स्वतंत्रता का इतिहास नहीं है। यह श्रमिक संघर्षों, राजनीतिक आंदोलनों और आर्थिक गतिविधियों के नियमन से जुड़ी प्रक्रिया भी है।

13. पूँजीवाद और आधुनिक विश्व का निर्माण

पूँजीवाद ने आधुनिक विश्व की आर्थिक संरचना को प्रभावित करने के साथ-साथ विज्ञान, तकनीक, शिक्षा, परिवहन और उपभोग की प्रवृत्तियों को भी बदल दिया।

13.1 तकनीकी नवाचार

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा और लाभ की संभावना उद्यमियों को नई तकनीक अपनाने के लिए प्रेरित कर सकती है।

औद्योगिक क्रांति के बाद मशीनों, रेल परिवहन, बिजली, रासायनिक उद्योग और संचार तकनीकों में व्यापक परिवर्तन हुए।

बीसवीं शताब्दी में मोटर वाहन, विमानन, कंप्यूटर और दूरसंचार ने उत्पादन तथा व्यापार को नए रूप दिए।

इक्कीसवीं शताब्दी में डिजिटल तकनीक, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, स्वचालन और डेटा-आधारित सेवाएँ आर्थिक संगठन को प्रभावित कर रही हैं।

13.2 वैश्वीकरण

आधुनिक पूँजीवाद का एक प्रमुख पक्ष वैश्वीकरण है। इसके अंतर्गत उत्पादन, निवेश, व्यापार और वित्तीय गतिविधियाँ विभिन्न देशों के बीच अधिक गहराई से जुड़ती हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अनेक देशों में उत्पादन और विपणन करती हैं। एक वस्तु का कच्चा माल एक देश से, पुर्जे दूसरे देश से और अंतिम संयोजन किसी तीसरे देश में हो सकता है।

वैश्वीकरण से कुछ क्षेत्रों में रोजगार, निवेश और तकनीकी विकास के अवसर उत्पन्न हुए हैं। दूसरी ओर, इससे श्रमिकों की सुरक्षा, पर्यावरणीय प्रभाव, आर्थिक निर्भरता और वैश्विक असमानता से जुड़े प्रश्न भी सामने आए हैं।

13.3 उपभोक्तावाद और जीवनशैली

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन तथा विपणन व्यापक रूप से विकसित हुआ। विज्ञापन, ब्रांड, उपभोक्ता ऋण और बाजार आधारित जीवनशैली आधुनिक समाज के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए।

उपभोग ने अनेक क्षेत्रों में जीवन की सुविधाओं और वस्तुओं की उपलब्धता बढ़ाई है। लेकिन उपभोक्तावाद से संसाधनों के अत्यधिक उपयोग, पर्यावरणीय दबाव और सामाजिक प्रतिष्ठा को वस्तुओं के स्वामित्व से जोड़ने जैसी समस्याएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।

13.4 आर्थिक असमानता

पूँजीवादी विकास के बावजूद संपत्ति और आय का वितरण कई समाजों में असमान बना हुआ है।

कुछ व्यक्तियों और कंपनियों के पास अत्यधिक पूँजी केंद्रित हो सकती है, जबकि अन्य लोग रोजगार की अस्थिरता और सीमित आय का सामना करते हैं।

आर्थिक असमानता को प्रभावित करने वाले कारकों में शिक्षा, तकनीकी परिवर्तन, कर व्यवस्था, श्रम कानून, संपत्ति का विरासत में हस्तांतरण और बाजार में प्रतिस्पर्धा की परिस्थितियाँ शामिल हैं।

इसलिए पूँजीवाद के मूल्यांकन में आर्थिक विकास के साथ यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि विकास से उत्पन्न लाभ समाज के विभिन्न वर्गों तक किस प्रकार पहुँचते हैं।

14. पूँजीवाद के उदय पर समग्र ऐतिहासिक मूल्यांकन

पूँजीवाद के उदय की प्रक्रिया को समझने के लिए विभिन्न ऐतिहासिक कारकों को एक-दूसरे से जोड़कर देखना आवश्यक है।

पहला, **सामंती व्यवस्था में परिवर्तन** ने भूमि, श्रम और उत्पादन के पारंपरिक संबंधों को प्रभावित किया। कुछ क्षेत्रों में कृषकों की स्वतंत्रता बढ़ी, जबकि अन्य क्षेत्रों में भूमि से वंचित होने और मजदूरी पर निर्भरता की प्रक्रियाएँ मजबूत हुईं।

दूसरा, **व्यापार और बाजारों का विस्तार** आर्थिक गतिविधियों को स्थानीय सीमाओं से बाहर ले गया। नगरों, व्यापारियों और वित्तीय संस्थाओं ने पूँजी के संचय तथा निवेश की संभावनाएँ बढ़ाईं।

तीसरा, **कृषि का व्यावसायीकरण** उत्पादन को बाजार की माँग और लाभ से अधिक गहराई से जोड़ने लगा। इंग्लैंड में कृषि संबंधों के विशिष्ट परिवर्तन ने पूँजीवादी कृषि और श्रम बाजार के विकास में योगदान दिया।

चौथा, **उपनिवेशवाद और वैश्विक व्यापार** ने यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं को अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के संसाधनों तथा श्रम से जोड़ा। इन संबंधों में व्यापारिक अवसरों के साथ हिंसा, दासता और आर्थिक शोषण भी शामिल थे।

पाँचवाँ, **औद्योगिक क्रांति** ने मशीनों, कारखानों और मजदूरी पर आधारित उत्पादन को व्यापक बनाया। इससे उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई और औद्योगिक श्रमिक वर्ग का विस्तार हुआ।

छठा, **आधुनिक राज्य और कानूनी संस्थाओं** ने संपत्ति, अनुबंध, व्यापार, निवेश तथा वित्तीय व्यवस्था के विकास को प्रभावित किया।

सातवाँ, **विचारधाराओं और सामाजिक आंदोलनों** ने पूँजीवादी समाज की संरचना तथा उसके विरोधाभासों पर बहस को जन्म दिया। उदारवाद ने आर्थिक स्वतंत्रता और निजी संपत्ति के विचारों को समर्थन दिया, जबकि समाजवाद और मार्क्सवाद ने वर्ग-संबंधों तथा आर्थिक असमानता की आलोचना प्रस्तुत की।

इन सभी कारकों के संयुक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पूँजीवाद का उदय न तो केवल व्यापार के विस्तार का परिणाम था और न ही केवल औद्योगिक क्रांति का। यह उत्पादन संबंधों, बाजारों, राज्य, तकनीक और वैश्विक संपर्कों में दीर्घकालीन परिवर्तन का परिणाम था।

क्या पूँजीवाद का उदय एक क्रांति थी या क्रमिक प्रक्रिया?

इस प्रश्न पर भी इतिहासकारों में बहस है।

एक दृष्टिकोण के अनुसार पूँजीवाद का उदय एक क्रमिक प्रक्रिया थी, जो मध्यकालीन व्यापार, नगरों, बैंकिंग और कृषि संबंधों में बदलाव के साथ विकसित हुई।

दूसरा दृष्टिकोण औद्योगिक क्रांति को निर्णायक परिवर्तन मानता है, क्योंकि इसने उत्पादन की तकनीक, श्रम संगठन और आर्थिक विकास की गति को मूल रूप से बदल दिया।

तीसरा दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि पूँजीवाद का विकास केवल यूरोप की आंतरिक प्रक्रिया नहीं था, बल्कि उपनिवेशवाद, दास व्यापार और वैश्विक श्रम-विभाजन से भी जुडा था।

इन दृष्टिकोणों को परस्पर विरोधी मानना आवश्यक नहीं है। पूँजीवाद के अलग-अलग पक्षों का विकास अलग-अलग समय पर हुआ। व्यापारिक पूँजी का उदय औद्योगिक पूँजीवाद से पहले हो चुका था, लेकिन आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद ने उत्पादन तथा सामाजिक संबंधों को अधिक व्यापक रूप से बदल दिया।

इसी कारण पूँजीवाद के उदय की कोई एक निश्चित तिथि निर्धारित करना कठिन है। इसके बजाय विभिन्न क्षेत्रों में पूँजीवादी संबंधों के क्रमिक विकास और उनके विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भों का अध्ययन अधिक उपयोगी है।

15. निष्कर्ष

पूँजीवाद का उदय आधुनिक इतिहास की एक व्यापक और बहुआयामी परिवर्तन प्रक्रिया थी। इसने यूरोप के सामंती सामाजिक ढाँचे, कृषि संबंधों, व्यापारिक गतिविधियों और उत्पादन की पद्धतियों को क्रमशः बदल दिया। निजी संपत्ति, पूँजी संचय, बाजारोन्मुख उत्पादन, मजदूरी पर आधारित श्रम और लाभ प्राप्ति इसके प्रमुख आधार बने।

पूँजीवाद का विकास मध्यकालीन नगरों और व्यापार से शुरू हुई प्रक्रियाओं, वित्तीय संस्थाओं के विस्तार, कृषि के व्यावसायीकरण, सामंती संबंधों में परिवर्तन तथा अटलांटिक व्यापार और औपनिवेशिक विस्तार से जुड़ा था। औद्योगिक क्रांति ने इन परिवर्तनों को नई गति प्रदान की और कारखाना प्रणाली, मशीनों तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन को व्यापक बनाया।

इस प्रक्रिया ने सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन किए। पूँजीपति वर्ग, औद्योगिक मजदूर वर्ग और मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ। ग्रामीण समाज से नगरों की ओर जनसंख्या का प्रवाह बढ़ा और परिवार, श्रम, शिक्षा तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के स्वरूप में बदलाव आया।

हालाँकि पूँजीवाद के उदय को केवल प्रगति की कहानी के रूप में नहीं देखा जा सकता। इसने उत्पादन और तकनीक के विकास के साथ-साथ आर्थिक असमानता, श्रमिकों के शोषण, औपनिवेशिक प्रभुत्व, दासता और पर्यावरणीय दबाव जैसी समस्याओं को भी जन्म दिया अथवा अनेक क्षेत्रों में उन्हें तीव्र किया। श्रमिक आंदोलनों, समाजवादी विचारधारा, श्रम कानूनों और सामाजिक सुधारों ने इन समस्याओं के समाधान के लिए विभिन्न प्रयास किए।

मॉरिस डॉब, पॉल स्वीजी, रॉबर्ट ब्रेनर, इमैनुएल वालरस्टीन और फर्नां ब्रॉडेल जैसे इतिहासकारों की व्याख्याएँ यह स्पष्ट करती हैं कि पूँजीवाद के उदय को किसी एक कारण से नहीं समझा जा सकता। उत्पादन संबंधों, वर्ग-संघर्ष, बाजार, कृषि संरचना, राज्य और वैश्विक व्यापार ने अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग भूमिका निभाई।

अंततः कहा जा सकता है कि पूँजीवाद का उदय केवल एक आर्थिक व्यवस्था के जन्म की घटना नहीं था, बल्कि इसने आधुनिक समाज के निर्माण में निर्णायक योगदान दिया। इसने आर्थिक विकास, सामाजिक गतिशीलता, तकनीकी नवाचार और वैश्विक संपर्कों के नए अवसर उत्पन्न किए, लेकिन साथ ही संपत्ति, श्रम,

शक्ति और संसाधनों के वितरण से जुड़े प्रश्न भी सामने रखे। इसलिए पूँजीवाद का ऐतिहासिक अध्ययन आधुनिक विश्व की उपलब्धियों, अंतर्विरोधों और असमानताओं को समझने की एक आवश्यक कुंजी है।

संदर्भ ग्रंथ एवं इतिहासकार

नीचे दिए गए ग्रंथ पूँजीवाद के उदय, सामंतवाद से संक्रमण, औद्योगिक क्रांति और वैश्विक अर्थव्यवस्था के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं।

1. **Dobb, Maurice.** (1946). *Studies in the Development of Capitalism*. London: Routledge & Kegan Paul.
2. **Sweezy, Paul M., et al.** (1976). *The Transition from Feudalism to Capitalism*. London: New Left Books.
3. **Brenner, Robert.** (1976). Agrarian class structure and economic development in pre-industrial Europe. *Past & Present, 70*, 30–75.
4. **Wallerstein, Immanuel.** (1974). *The Modern World-System I: Capitalist Agriculture and the Origins of the European World-Economy in the Sixteenth Century*. New York: Academic Press.
5. **Braudel, Fernand.** (1982). *The Wheels of Commerce: Civilization and Capitalism, 15th–18th Century, Volume II*. New York: Harper & Row.
6. **Abu-Lughod, Janet L.** (1989). *Before European Hegemony: The World System A.D. 1250–1350*. New York: Oxford University Press.
7. **Marx, Karl.** (1867). *Capital: A Critique of Political Economy, Volume I*.
8. **Weber, Max.** (1904–1905). *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism*.
9. **Smith, Adam.** (1776). *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*.
10. **Williams, Eric.** (1944). *Capitalism and Slavery*. Chapel Hill: University of North Carolina Press.
11. **Nef, John U.** (1934). *The Rise of the British Coal Industry*. London: Routledge.
12. **Nourse, Dadabhai.** दादाभाई नौरोजी के औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और धन-निष्कासन संबंधी लेखन के लिए उनकी पुस्तक *Poverty and Un-British Rule in India* (1901) देखें।

रेनेसां और रिफॉर्मेशन : पुरानी मान्यताओं को चुनौती, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवर्तन तथा आधुनिक युग की ओर संक्रमण

(Renaissance and Reformation: Challenges to Traditional Beliefs, Cultural and Religious Changes, and the Transition to the Modern Age)

1. प्रस्तावना

यूरोप के इतिहास में चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी के बीच हुए पुनर्जागरण (Renaissance) और धर्म-सुधार आंदोलन (Reformation) ने मध्यकालीन समाज की बौद्धिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया। इन आंदोलनों ने यूरोप में प्रचलित अनेक परंपरागत मान्यताओं पर प्रश्न उठाए और आधुनिक युग के उदय के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित कीं।

मध्यकालीन यूरोप में ईसाई चर्च का धार्मिक जीवन के साथ-साथ शिक्षा, दर्शन, राजनीति और सामाजिक व्यवस्था पर भी व्यापक प्रभाव था। सामंती संबंधों, धार्मिक परंपराओं तथा चर्च की संस्थाओं ने समाज की संरचना को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ज्ञान और शिक्षा का बड़ा हिस्सा चर्च से जुड़ी संस्थाओं के माध्यम से विकसित होता था। यद्यपि मध्यकालीन यूरोप में बौद्धिक गतिविधियाँ पूरी तरह समाप्त नहीं थीं, फिर भी धार्मिक प्राधिकार अनेक क्षेत्रों में ज्ञान और विचारों की सीमाएँ निर्धारित करता था।

चौदहवीं शताब्दी से यूरोप में प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के अध्ययन, मानव-केंद्रित चिंतन, कला, विज्ञान तथा शिक्षा के नए रूपों का विकास हुआ। इस व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन को पुनर्जागरण कहा जाता है। पुनर्जागरण ने मनुष्य की बौद्धिक क्षमता, व्यक्तिगत प्रतिभा, तर्क, अनुभव और सांसारिक जीवन के महत्त्व पर बल दिया।

इसी दौरान सोलहवीं शताब्दी में ईसाई चर्च की प्रथाओं, धार्मिक अधिकारों तथा पोप की सर्वोच्चता के विरुद्ध व्यापक आंदोलन विकसित हुआ। इसे धर्म-सुधार आंदोलन कहा जाता है। मार्टिन लूथर, जॉन कैल्विन और अन्य सुधारकों ने चर्च की कुछ प्रथाओं की आलोचना की तथा बाइबिल, विश्वास और व्यक्तिगत धार्मिक चेतना के महत्त्व पर बल दिया। परिणामस्वरूप पश्चिमी ईसाई धर्म में प्रोटेस्टेंट परंपराओं का विकास हुआ और यूरोप की धार्मिक एकता कमजोर हुई।

पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन एक-दूसरे से संबंधित होने के बावजूद अलग-अलग प्रकृति के आंदोलन थे। पुनर्जागरण का मुख्य केंद्र साहित्य, कला, शिक्षा और मानववादी चिंतन था, जबकि धर्म-सुधार आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक विश्वासों, चर्च की संस्थाओं और ईसाई धर्म की व्याख्या में परिवर्तन लाना था। दोनों ने अलग-अलग तरीकों से परंपरागत प्राधिकारों पर प्रश्न उठाए।

इन आंदोलनों के परिणामस्वरूप यूरोप में शिक्षा, साहित्य, कला, धार्मिक जीवन, राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक संबंधों में परिवर्तन हुए। वैज्ञानिक क्रांति, आधुनिक राजनीतिक चिंतन और आधुनिक राज्य के विकास के लिए भी इन परिवर्तनों ने कुछ महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ निर्मित कीं।

इस प्रकार पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन को मध्यकालीन यूरोप से आधुनिक युग की ओर संक्रमण की दो प्रमुख ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के रूप में समझा जा सकता है।

2. पुनर्जागरण का अर्थ एवं परिभाषा

पुनर्जागरण अंग्रेजी शब्द *Renaissance* का हिंदी रूप है। यह फ्रांसीसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है—**पुनर्जन्म या पुनरुत्थान।**

ऐतिहासिक संदर्भ में पुनर्जागरण से आशय यूरोप में प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य, कला, दर्शन तथा ज्ञान के पुनः अध्ययन और उनसे प्रेरित सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया से है।

इसका प्रारंभ सामान्यतः चौदहवीं शताब्दी में इटली से माना जाता है। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में इसका प्रभाव यूरोप के अन्य क्षेत्रों में भी फैल गया।

पुनर्जागरण केवल प्राचीन ज्ञान की वापसी नहीं था। इसमें प्राचीन विचारों को नए सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक संदर्भों में समझने का प्रयास भी शामिल था। इसने मनुष्य की क्षमताओं, व्यक्तिगत अनुभव, तर्क, रचनात्मकता और सांसारिक जीवन के महत्त्व को नई प्रतिष्ठा प्रदान की।

2.1 पुनर्जागरण की प्रमुख विशेषताएँ

1. प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य का पुनः अध्ययन।
2. मानववाद का विकास।
3. कला और स्थापत्य में यथार्थवाद।
4. साहित्य तथा शिक्षा में नए दृष्टिकोण।
5. तर्क, निरीक्षण और अनुभव के प्रति बढ़ती रुचि।
6. व्यक्ति की प्रतिभा और रचनात्मकता पर बल।
7. मुद्रण तकनीक के माध्यम से ज्ञान का प्रसार।
8. भूगोल, गणित, शरीर-विज्ञान तथा प्राकृतिक ज्ञान में बढ़ती जिज्ञासा।
9. सांसारिक जीवन और मानवीय उपलब्धियों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण।
10. यूरोपीय सांस्कृतिक जीवन में क्षेत्रीय विविधताओं तथा नए बौद्धिक केंद्रों का विकास।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पुनर्जागरण के दौरान धर्म का महत्त्व समाप्त नहीं हुआ। अनेक पुनर्जागरणकालीन कलाकार, विद्वान और संरक्षक धार्मिक आस्था रखते थे। इसलिए पुनर्जागरण को धर्म-विरोधी आंदोलन कहना ऐतिहासिक रूप से उचित नहीं है।

3. पुनर्जागरण के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पुनर्जागरण का उदय अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक परिस्थितियों के संयुक्त प्रभाव से हुआ।

3.1 इटली की भौगोलिक एवं व्यापारिक स्थिति

पुनर्जागरण का प्रारंभ इटली में हुआ। इसका एक प्रमुख कारण भूमध्यसागरीय व्यापार में इटली के नगरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

वेनिस, जेनोआ और फ्लोरेंस जैसे नगर व्यापार, बैंकिंग, शिल्प तथा वित्तीय गतिविधियों के प्रमुख केंद्र थे। इनके व्यापारिक संपर्क यूरोप के अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ पूर्वी भूमध्यसागर और एशिया के विभिन्न व्यापारिक नेटवर्कों तक फैले हुए थे।

व्यापार से समृद्ध हुए नगरों में ऐसे वर्ग विकसित हुए जो कला, साहित्य, शिक्षा और स्थापत्य को संरक्षण दे सकते थे।

फ्लोरेंस विशेष रूप से पुनर्जागरण का महत्त्वपूर्ण केंद्र बना। वहाँ के समृद्ध व्यापारिक और बैंकिंग परिवारों ने कलाकारों, वास्तुकारों तथा विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया।

3.2 नगरों और व्यापारिक वर्ग का विकास

मध्यकाल के अंतिम चरण में यूरोप के अनेक नगरों में व्यापारियों, बैंकरों और कुशल कारीगरों का प्रभाव बढ़ा। इन वर्गों की आर्थिक शक्ति केवल भूमि पर आधारित नहीं थी।

इससे सामाजिक प्रतिष्ठा के नए आधार विकसित हुए। धन, शिक्षा, व्यक्तिगत उपलब्धि और कला-संरक्षण सामाजिक प्रभाव के महत्त्वपूर्ण साधन बनने लगे।

समृद्ध नागरिकों ने सार्वजनिक भवनों, चर्चों, पुस्तकालयों और कलात्मक परियोजनाओं को संरक्षण दिया। इस प्रक्रिया ने कलाकारों और विद्वानों को अपने कार्य के लिए संसाधन उपलब्ध कराए।

3.3 प्राचीन यूनानी-रोमन ज्ञान की पुनर्खोज

पुनर्जागरण के विद्वानों ने प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य, इतिहास, दर्शन तथा राजनीतिक चिंतन का अध्ययन किया।

प्लेटो, अरस्तू, सिसरो और अन्य प्राचीन लेखकों की रचनाओं ने शिक्षा तथा बौद्धिक जीवन को प्रभावित किया। विद्वानों ने प्राचीन ग्रंथों के मूल पाठों की खोज, तुलना और आलोचनात्मक अध्ययन पर बल दिया।

पूर्वी भूमध्यसागर के विद्वानों, व्यापारिक संपर्कों और यूनानी पांडुलिपियों के संचरण ने भी इस प्रक्रिया में योगदान दिया। 1453 में कॉन्स्टेंटिनोपल पर ओटोमन विजय के बाद कुछ यूनानी विद्वानों का इटली की ओर आना इस ज्ञान-संचरण की प्रक्रिया का एक पक्ष था, लेकिन प्राचीन यूनानी ज्ञान का प्रसार इससे बहुत पहले से जारी था।

3.4 सामंती व्यवस्था में परिवर्तन

यूरोप में सामंती व्यवस्था के परिवर्तन, नगरों के विकास और व्यापारिक संबंधों के विस्तार ने नए सामाजिक समूहों के उदय में योगदान दिया।

इन परिवर्तनों के कारण समाज में ऐसी परिस्थितियाँ विकसित हुईं जिनमें शिक्षा, साहित्य, कला और व्यक्तिगत उपलब्धि को नया महत्त्व मिला।

हालाँकि सामंतवाद का पतन और पुनर्जागरण एक ही प्रक्रिया नहीं थे। अनेक सामंती शासक पुनर्जागरणकालीन कला के संरक्षक भी बने। इसलिए दोनों के संबंध को क्रमिक और जटिल परिवर्तन के रूप में समझना चाहिए।

3.5 मुद्रण कला का विकास

योहान्स गुटेनबर्ग ने पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप में चल अक्षरों वाली मुद्रण तकनीक के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

मुद्रण के प्रसार से पुस्तकों का उत्पादन अपेक्षाकृत तेज हुआ और ज्ञान के प्रसार की संभावनाएँ बढ़ीं। प्राचीन साहित्य, धार्मिक ग्रंथों, वैज्ञानिक विचारों तथा मानववादी लेखन की प्रतियाँ अधिक व्यापक स्तर पर उपलब्ध होने लगीं।

मुद्रण ने विद्वानों के बीच विचारों के आदान-प्रदान को भी प्रोत्साहित किया। बाद में इसी तकनीक ने धर्म-सुधार आंदोलन के विचारों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

3.6 शिक्षा और विश्वविद्यालयों का विकास

यूरोप के विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों में शिक्षा के विभिन्न रूप विकसित हो रहे थे। पुनर्जागरणकालीन मानववादियों ने व्याकरण, वक्तृत्व, इतिहास, काव्य और नैतिक दर्शन के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया।

इस प्रकार शिक्षा का दायरा केवल धर्मशास्त्रीय प्रश्नों तक सीमित नहीं रहा। प्राचीन साहित्य, इतिहास और मानवीय अनुभवों का अध्ययन भी बौद्धिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बना।

4. मानववाद : पुनर्जागरण की प्रमुख विचारधारा

मानववाद (*Humanism*) पुनर्जागरण की सबसे महत्त्वपूर्ण बौद्धिक धाराओं में से एक था।

मानववादियों ने मनुष्य की बौद्धिक क्षमता, नैतिक विवेक, भाषा, साहित्य और सामाजिक जीवन को अध्ययन का प्रमुख विषय बनाया। उन्होंने प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य से प्रेरणा लेते हुए शिक्षा तथा मानवीय उपलब्धियों के महत्त्व पर बल दिया।

4.1 मानववाद की प्रमुख विशेषताएँ

पहली, मनुष्य की गरिमा पर बल: मानववाद ने मनुष्य की क्षमता, प्रतिभा और नैतिक विवेक के महत्त्व को रेखांकित किया।

दूसरी, प्राचीन साहित्य का अध्ययन: मानववादियों ने प्राचीन ग्रंथों के मूल पाठों, भाषा और ऐतिहासिक संदर्भों का अध्ययन किया।

तीसरी, आलोचनात्मक दृष्टिकोण: ग्रंथों की भाषा, प्रामाणिकता और अर्थ का परीक्षण करने की प्रवृत्ति विकसित हुई।

चौथी, शिक्षा का विस्तार: व्याकरण, इतिहास, काव्य, वक्तृत्व और नैतिक दर्शन को विशेष महत्त्व दिया गया।

पाँचवीं, सांसारिक जीवन की प्रतिष्ठा: नागरिक जीवन, राजनीतिक सहभागिता, कला और मानवीय उपलब्धियों को महत्त्वपूर्ण माना गया।

4.2 प्रमुख मानववादी विद्वान

पेट्रार्क (1304–1374)

फ्रांसेस्को पेट्रार्क को प्रायः प्रारंभिक पुनर्जागरण मानववाद का प्रमुख अग्रदूत माना जाता है। उन्होंने प्राचीन रोमन साहित्य का अध्ययन किया और प्राचीन पांडुलिपियों की खोज तथा पुनर्पाठ को प्रोत्साहित किया।

उनके लेखन में प्राचीन संस्कृति के प्रति गहरा आकर्षण और मानवीय अनुभवों के प्रति विशेष संवेदनशीलता दिखाई देती है।

इरास्मस (लगभग 1466–1536)

डेसिडेरियस इरास्मस उत्तरी पुनर्जागरण के प्रमुख मानववादी विद्वान थे। उन्होंने शिक्षा, नैतिक सुधार और ईसाई धर्म की मूल भावना पर बल दिया।

उनकी प्रसिद्ध कृति *In Praise of Folly* में उन्होंने सामाजिक आडंबरों, अंधविश्वासों और धार्मिक संस्थाओं की कुछ प्रथाओं पर व्यंग्य किया।

इरास्मस ने चर्च के सुधार का समर्थन किया, लेकिन मार्टिन लूथर की सभी धार्मिक मान्यताओं से सहमत नहीं थे।

पिको डेला मिरांडोला (1463–1494)

पिको डेला मिरांडोला की रचना *Oration on the Dignity of Man* पुनर्जागरण मानववाद की प्रसिद्ध अभिव्यक्तियों में गिनी जाती है।

उन्होंने मनुष्य की क्षमता और आत्म-विकास की संभावनाओं पर बल दिया। उनकी विचारधारा में विभिन्न दार्शनिक परंपराओं के बीच संवाद की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है।

4.3 मानववाद और मध्यकालीन चिंतन

मानववाद ने मध्यकालीन बौद्धिक परंपराओं से संवाद करते हुए शिक्षा और ज्ञान के नए दृष्टिकोण विकसित किए। इसे मध्यकालीन संस्कृति के पूर्ण निषेध के रूप में नहीं देखना चाहिए।

मध्यकालीन यूरोप में भी दर्शन, विश्वविद्यालयों, विज्ञान और साहित्य का विकास हुआ था। पुनर्जागरण ने इनमें से अनेक परंपराओं को नए संदर्भों में पुनर्व्याख्यायित किया।

इसलिए मानववाद का ऐतिहासिक महत्त्व पुराने ज्ञान के पूर्ण परित्याग में नहीं, बल्कि ज्ञान के नए विषयों, विधियों और प्राथमिकताओं के विकास में था।

5. कला, साहित्य और स्थापत्य में सांस्कृतिक परिवर्तन

पुनर्जागरण का सबसे स्पष्ट प्रभाव कला, साहित्य और स्थापत्य में दिखाई देता है। इस काल में कलाकारों ने मानव शरीर, प्रकृति, भावनाओं और वास्तविक जीवन के चित्रण में नए प्रयोग किए।

5.1 चित्रकला में परिवर्तन

मध्यकालीन यूरोपीय चित्रकला में धार्मिक विषयों का विशेष महत्त्व था। पुनर्जागरण में भी धार्मिक विषय महत्त्वपूर्ण बने रहे, लेकिन उनके चित्रण की शैली में उल्लेखनीय परिवर्तन आया।

कलाकारों ने परिप्रेक्ष्य, प्रकाश-छाया, शारीरिक संरचना और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया।

चित्रों में गहराई, स्थान और मानवीय भावनाओं को अधिक यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने के प्रयास किए गए।

5.2 लियोनार्डो दा विंची

लियोनार्डो दा विंची (1452–1519) पुनर्जागरण के बहुमुखी कलाकार और अन्वेषक थे।

उनकी प्रसिद्ध कृतियों में *मोना लिसा* और *द लास्ट सपर* शामिल हैं। उन्होंने चित्रकला के साथ शरीर-विज्ञान, यांत्रिकी, प्रकृति और तकनीकी रेखाचित्रों में भी रुचि दिखाई।

लियोनार्डो का जीवन पुनर्जागरणकालीन आदर्श का उदाहरण माना जाता है, जिसमें कला और प्रकृति के अध्ययन को एक-दूसरे से जुड़ा हुआ देखा गया।

5.3 माइकल एंजेलो

माइकल एंजेलो (1475–1564) पुनर्जागरण के महान मूर्तिकार, चित्रकार और वास्तुकार थे।

उनकी प्रसिद्ध कृतियों में *डेविड* की मूर्ति, *पिएटा* तथा सिस्टीन चैपल की छत पर बनाए गए चित्र शामिल हैं।

उनकी कला में मानव शरीर की शक्ति, भावनाओं की तीव्रता और मानवीय आकृति की गरिमा का प्रभावशाली चित्रण मिलता है।

5.4 राफेल

राफेल (1483–1520) पुनर्जागरण के प्रमुख चित्रकार थे। उनकी प्रसिद्ध कृति *द स्कूल ऑफ एथेंस* में प्राचीन यूनानी दार्शनिकों को एक भव्य स्थापत्य परिवेश में चित्रित किया गया है।

यह चित्र प्राचीन दर्शन, तर्क और बौद्धिक संवाद के प्रति पुनर्जागरणकालीन रुचि का प्रतिनिधित्व करता है।

5.5 स्थापत्य कला में परिवर्तन

पुनर्जागरणकालीन स्थापत्य में प्राचीन यूनानी और रोमन वास्तुशैली से प्रेरणा ली गई। स्तंभों, गुंबदों, सममिति और अनुपात का व्यवस्थित उपयोग किया गया।

फिलिप्पो ब्रुनेलेस्की का फ्लोरेंस के सांता मारिया डेल फियोरे के गुंबद से संबंधित कार्य स्थापत्य इतिहास की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

स्थापत्य में गणितीय अनुपात और ज्यामिति के प्रयोग ने भवनों की संरचना तथा सौंदर्य संबंधी दृष्टिकोण को प्रभावित किया।

5.6 साहित्य में परिवर्तन

पुनर्जागरणकालीन साहित्य में मानवीय अनुभव, राजनीतिक जीवन, प्रेम, नैतिकता और सामाजिक संबंधों जैसे विषयों को विशेष महत्त्व मिला।

इटली में दांते, पेट्रार्क और बोक्काचियो जैसे लेखकों ने यूरोपीय साहित्यिक परंपरा पर गहरा प्रभाव डाला। इनमें से कुछ लेखक पुनर्जागरण से पहले या उसके आरंभिक चरण में सक्रिय थे, लेकिन उनके लेखन ने बाद के मानववादी विकास को प्रभावित किया।

इंग्लैंड में विलियम शेक्सपियर के नाटकों में मानवीय भावनाओं, राजनीतिक सत्ता, महत्त्वाकांक्षा, नैतिक दुविधाओं और सामाजिक संबंधों का व्यापक चित्रण मिलता है।

इस प्रकार पुनर्जागरण ने यूरोपीय साहित्य को नए विषयों और अभिव्यक्ति की विविध शैलियों से समृद्ध किया।

6. पुनर्जागरण और वैज्ञानिक चिंतन

पुनर्जागरणकालीन बौद्धिक वातावरण ने प्रकृति के अध्ययन, गणित, शरीर-विज्ञान और खगोलशास्त्र के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित कीं।

हालाँकि आधुनिक विज्ञान का विकास केवल पुनर्जागरण का परिणाम नहीं था। मध्यकालीन यूरोप, इस्लामी संसार और अन्य बौद्धिक परंपराओं में पहले से विकसित ज्ञान ने भी इसमें योगदान दिया।

6.1 प्रकृति के अध्ययन में रुचि

पुनर्जागरणकालीन विद्वानों ने प्रकृति, मानव शरीर और भौतिक संसार के अध्ययन में रुचि दिखाई।

निरीक्षण, गणना, चित्रांकन और प्रयोग की कुछ विधियों को अधिक व्यवस्थित रूप से विकसित किया गया।

शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में आंद्रेयास वेसालियस ने मानव शरीर की संरचना का अध्ययन किया। उनकी पुस्तक *De humani corporis fabrica* 1543 में प्रकाशित हुई और शरीर-विज्ञान के इतिहास में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

6.2 कोपरनिकस और खगोलशास्त्र

निकोलस कोपरनिकस की पुस्तक *De revolutionibus orbium coelestium* 1543 में प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने सूर्य-केंद्रित खगोलीय मॉडल प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार पृथ्वी सहित ग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते हैं।

यह विचार उस समय प्रचलित भू-केंद्रित मॉडल से भिन्न था, जिसमें पृथ्वी को ब्रह्मांड का केंद्र माना जाता था।

कोपरनिकस के विचारों ने खगोलशास्त्र में नए प्रश्न उठाए और बाद की वैज्ञानिक क्रांति के लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान किया।

6.3 वैज्ञानिक क्रांति की ओर संक्रमण

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में खगोलशास्त्र, भौतिकी, गणित और प्राकृतिक दर्शन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए।

टाइको ब्राहे, योहानेस केप्लर, गैलीलियो गैलिली और आइजैक न्यूटन जैसे विद्वानों ने अलग-अलग समय पर इन क्षेत्रों के विकास में योगदान दिया।

यह परिवर्तन केवल धार्मिक प्राधिकार के विरोध का परिणाम नहीं था। इसमें गणितीय विधियों, तकनीकी उपकरणों, अवलोकन, प्रयोग और बौद्धिक संवाद की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण थी।

इसलिए पुनर्जागरण और वैज्ञानिक क्रांति के संबंध को एक व्यापक बौद्धिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए।

भाग II : धर्म-सुधार आंदोलन (Reformation)

7. धर्म-सुधार आंदोलन का अर्थ

धर्म-सुधार आंदोलन से आशय सोलहवीं शताब्दी में पश्चिमी ईसाई जगत के भीतर विकसित उन धार्मिक आंदोलनों से है, जिन्होंने रोमन कैथोलिक चर्च की कुछ मान्यताओं, प्रथाओं और संस्थागत अधिकारों को चुनौती दी।

इस आंदोलन के परिणामस्वरूप प्रोटेस्टेंट ईसाई परंपराओं का विकास हुआ और पश्चिमी यूरोप की धार्मिक एकता में गहरा परिवर्तन आया।

धर्म-सुधार आंदोलन का प्रमुख केंद्र जर्मन क्षेत्र था, लेकिन इसका प्रभाव स्विट्जरलैंड, इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, नीदरलैंड और यूरोप के अन्य हिस्सों में भी फैल गया।

इस आंदोलन के परिणामस्वरूप ईसाई धर्म के भीतर अलग-अलग संप्रदाय विकसित हुए। इससे धार्मिक पहचान, शिक्षा, राजनीतिक सत्ता और सामाजिक संबंधों पर दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा।

8. धर्म-सुधार आंदोलन के प्रमुख कारण

धर्म-सुधार आंदोलन का उदय अनेक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और बौद्धिक कारणों से हुआ।

8.1 चर्च की कुछ प्रथाओं के प्रति असंतोष

मध्यकालीन यूरोप में रोमन कैथोलिक चर्च एक शक्तिशाली धार्मिक संस्था थी। पोप, बिशप और अन्य धर्माधिकारी धार्मिक जीवन के साथ-साथ राजनीतिक और सामाजिक मामलों में भी प्रभाव रखते थे।

कुछ धार्मिक अधिकारियों के व्यवहार, चर्च की संपत्ति और पदों के दुरुपयोग तथा धार्मिक सेवाओं से जुड़े आर्थिक लेन-देन के प्रति असंतोष बढ़ रहा था।

विशेष रूप से क्षमापत्रों (*Indulgences*) की बिक्री से संबंधित विवाद ने धर्म-सुधार आंदोलन को गति दी।

कैथोलिक धर्मशास्त्र में क्षमापत्र का संबंध पाप के लिए निर्धारित अस्थायी दंड से मुक्ति से था; इसे सीधे पापों की खरीद-बिक्री के समान समझना सही नहीं है। फिर भी कुछ स्थानों पर क्षमापत्रों के प्रचार और उनसे धन जुटाने की पद्धतियों ने गंभीर विवाद उत्पन्न किए।

8.2 पोप की सत्ता के विरुद्ध प्रतिक्रिया

धर्म-सुधारकों के एक वर्ग ने पोप के धार्मिक अधिकार और चर्च की संस्थागत सर्वोच्चता पर प्रश्न उठाए।

उनका तर्क था कि ईसाई धर्म के सिद्धांतों को समझने के लिए बाइबिल और प्रारंभिक ईसाई परंपराओं का महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

हालाँकि सभी सुधारक पोप की सत्ता के संबंध में एक जैसी मान्यता नहीं रखते थे। विभिन्न प्रोटेस्टेंट परंपराओं के सिद्धांत और संगठन अलग-अलग विकसित हुए।

8.3 मानववाद का प्रभाव

पुनर्जागरण मानववाद ने प्राचीन ग्रंथों के मूल पाठों के अध्ययन तथा आलोचनात्मक पद्धति को प्रोत्साहित किया।

कुछ ईसाई मानववादियों ने बाइबिल के मूल भाषाई पाठों का अध्ययन किया और धार्मिक संस्थाओं की प्रथाओं पर प्रश्न उठाए।

इरास्मस ने ईसाई नैतिकता, शिक्षा और धार्मिक सुधार पर बल दिया। उनकी विद्वत्ता ने धार्मिक ग्रंथों के आलोचनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहित किया, यद्यपि वे लूथर के सभी विचारों से सहमत नहीं थे।

8.4 मुद्रण कला का प्रभाव

मुद्रण तकनीक ने धर्म-सुधार आंदोलन के विस्तार में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

मार्टिन लूथर की रचनाएँ, धार्मिक पर्चे, पुस्तिकाएँ और बाइबिल के अनुवाद मुद्रित होकर व्यापक स्तर पर प्रसारित हुए।

मुद्रण ने धार्मिक बहसों को स्थानीय सीमाओं से बाहर पहुँचाया और सुधारकों को अपने विचारों का प्रचार करने में सहायता दी।

इससे धार्मिक प्राधिकार के साथ-साथ ज्ञान और सूचना के प्रसार की व्यवस्था में भी परिवर्तन आया।

8.5 राजनीतिक कारण

यूरोप के अनेक शासक और स्थानीय राजकुमार पोप के प्रभाव को सीमित करना चाहते थे। कुछ शासकों के लिए धर्म-सुधार आंदोलन ने चर्च की संपत्ति, राजनीतिक अधिकार और प्रशासनिक नियंत्रण से जुड़े अवसर भी प्रदान किए।

जर्मन क्षेत्रों में पवित्र रोमन साम्राज्य की राजनीतिक संरचना तथा स्थानीय राजकुमारों की स्थिति ने लूथर के आंदोलन के विस्तार को प्रभावित किया।

इंग्लैंड में हेनरी अष्टम के शासनकाल के दौरान राजसत्ता और पोप के बीच संघर्ष ने अंग्रेजी चर्च की स्वतंत्रता की प्रक्रिया को जन्म दिया।

इस प्रकार धर्म-सुधार आंदोलन केवल धार्मिक विवाद नहीं था; इसका संबंध राजनीतिक सत्ता और आर्थिक हितों से भी था।

9. मार्टिन लूथर और जर्मनी में धर्म-सुधार

मार्टिन लूथर (1483–1546) धर्म-सुधार आंदोलन के प्रमुख नेताओं में से एक थे।

वे जर्मनी के एक धर्मशास्त्री और ऑगस्टिनियन भिक्षु थे। उन्होंने चर्च की कुछ प्रथाओं, विशेषकर क्षमापत्रों के प्रचार, की आलोचना की।

9.1 पंचानवे स्थापनाएँ

31 अक्टूबर 1517 को लूथर ने क्षमापत्रों से संबंधित धार्मिक बहस को चुनौती देते हुए अपनी प्रसिद्ध पंचानवे स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं। परंपरागत विवरण में इन्हें विटेनबर्ग के चर्च के द्वार पर लगाने से जोड़ा जाता है, हालाँकि इस विशिष्ट घटना के विवरण पर इतिहासकारों में चर्चा है।

इन स्थापनाओं का उद्देश्य धार्मिक बहस को आगे बढ़ाना था। मुद्रण के माध्यम से उनके विचार शीघ्र ही व्यापक रूप से फैल गए।

9.2 विश्वास द्वारा औचित्य

लूथर के धर्मशास्त्र में विश्वास द्वारा औचित्य (*Justification by Faith*) का सिद्धांत केंद्रीय था।

उनके अनुसार मनुष्य की मुक्ति का आधार ईश्वर की कृपा और विश्वास है, न कि केवल धार्मिक कर्मकांड या संस्थागत प्रक्रियाएँ।

इस विचार ने चर्च की धार्मिक मध्यस्थता और मुक्ति संबंधी शिक्षाओं पर नई बहस उत्पन्न की।

9.3 बाइबिल का महत्त्व

लूथर ने ईसाई धर्म के सिद्धांतों के लिए बाइबिल के सर्वोच्च महत्त्व पर बल दिया।

उन्होंने बाइबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया, जिससे सामान्य पाठकों के लिए धार्मिक ग्रंथ तक पहुँच आसान हुई।

इसका परिणाम यह हुआ कि स्थानीय भाषाओं में धार्मिक साहित्य और शिक्षा के विकास को प्रोत्साहन मिला।

9.4 पोप और सम्राट से संघर्ष

1521 में वर्म्स की सभा के दौरान लूथर से अपने विचार वापस लेने की अपेक्षा की गई, लेकिन उन्होंने अपने सिद्धांतों का समर्थन जारी रखा।

पोप की ओर से उनके विरुद्ध धार्मिक दंड की कार्रवाई और पवित्र रोमन सम्राट चार्ल्स पंचम की नीतियों के बावजूद उनके विचारों को कुछ जर्मन राजकुमारों का समर्थन प्राप्त हुआ।

राजनीतिक संरक्षण और धार्मिक समर्थन के मेल ने लूथर के आंदोलन को टिके रहने में सहायता दी।

9.5 लूथर के आंदोलन के परिणाम

लूथर के आंदोलन के परिणामस्वरूप—

- लूथरन प्रोटेस्टेंट परंपरा का विकास हुआ।
- जर्मन क्षेत्रों में धार्मिक विभाजन बढ़ा।
- बाइबिल के स्थानीय भाषाओं में अनुवाद को प्रोत्साहन मिला।
- शिक्षा और धार्मिक पाठ के प्रसार में वृद्धि हुई।
- चर्च और राज्य के संबंधों पर नए प्रश्न उठे।

हालाँकि लूथर की विचारधारा आधुनिक धार्मिक स्वतंत्रता या लोकतंत्र के सभी सिद्धांतों के समान नहीं थी। उनके विचार अपने समय की धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों से गहराई से जुड़े थे।

10. जॉन कैल्विन और कैल्विनवाद

जॉन कैल्विन (1509–1564) धर्म-सुधार आंदोलन के प्रमुख विचारकों में से एक थे। उनका प्रभाव विशेष रूप से जिनेवा, फ्रांस, नीदरलैंड, स्कॉटलैंड और बाद में उत्तरी अमेरिका की कुछ प्रोटेस्टेंट परंपराओं पर पड़ा।

उनकी प्रमुख कृति *Institutes of the Christian Religion* का पहला संस्करण 1536 में प्रकाशित हुआ।

10.1 कैल्विनवाद के प्रमुख सिद्धांत

कैल्विनवादी धर्मशास्त्र में ईश्वर की सर्वोच्चता, ईश्वरीय कृपा और पूर्वनियति (*Predestination*) की अवधारणा को विशेष महत्त्व दिया गया।

पूर्वनियति के सिद्धांत के अनुसार मुक्ति के प्रश्न में ईश्वर की इच्छा और कृपा निर्णायक है। इस विषय की विभिन्न प्रोटेस्टेंट परंपराओं में अलग-अलग व्याख्याएँ विकसित हुईं।

कैल्विनवादी समुदायों में अनुशासित धार्मिक जीवन, सामुदायिक नैतिकता और चर्च के संगठन को भी महत्त्व दिया गया।

10.2 कैल्विनवाद का सामाजिक प्रभाव

कैल्विनवाद ने यूरोप के अनेक क्षेत्रों में धार्मिक और राजनीतिक आंदोलनों को प्रभावित किया।

स्विट्जरलैंड, फ्रांस, नीदरलैंड और स्कॉटलैंड में इसके अनुयायियों ने अलग-अलग परिस्थितियों में धार्मिक समुदायों का निर्माण किया।

मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता और आधुनिक पूँजीवाद के बीच संबंध की चर्चा करते समय कैल्विनवादी विचारों के कुछ रूपों पर विशेष ध्यान दिया।

हालाँकि कैल्विनवाद को आधुनिक पूँजीवाद का एकमात्र कारण मानना उचित नहीं है। व्यापार, संपत्ति संबंध, राज्य की नीतियाँ और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी आर्थिक विकास को प्रभावित करती थीं।

11. इंग्लैंड में धर्म-सुधार आंदोलन

इंग्लैंड में धर्म-सुधार आंदोलन का स्वरूप जर्मनी और स्विट्जरलैंड से कुछ भिन्न था। यहाँ राजसत्ता की भूमिका विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रही।

11.1 हेनरी अष्टम और पोप से संबंध-विच्छेद

हेनरी अष्टम (शासनकाल 1509–1547) के समय इंग्लैंड के राजा और पोप के बीच विवाह तथा उत्तराधिकार से संबंधित विवाद उत्पन्न हुआ।

1534 के *Act of Supremacy* ने इंग्लैंड के राजा को अंग्रेजी चर्च का सर्वोच्च प्रमुख घोषित किया। इससे इंग्लैंड का चर्च पोप के अधिकार से अलग हो गया।

इस परिवर्तन के पीछे धार्मिक विचारों के साथ-साथ राजकीय सत्ता और उत्तराधिकार के प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण थे।

11.2 मठों का विघटन

हेनरी अष्टम के शासनकाल में इंग्लैंड के अनेक मठों की संपत्ति जब्त की गई और मठीय संस्थाओं का विघटन किया गया।

इससे भूमि तथा संपत्ति का बड़ा हिस्सा राजसत्ता और नए भू-स्वामी वर्गों के नियंत्रण में आया।

इस प्रक्रिया के आर्थिक और सामाजिक परिणाम व्यापक थे। मठों से जुड़े धार्मिक, शैक्षिक तथा दान संबंधी कार्य भी प्रभावित हुए।

11.3 एलिजाबेथीय धार्मिक समझौता

एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल में 1559 के धार्मिक समझौते के माध्यम से इंग्लैंड के चर्च की संस्थागत स्थिति को अधिक स्थिर करने का प्रयास किया गया।

इससे अंग्रेजी चर्च की विशिष्ट धार्मिक पहचान विकसित हुई, जिसमें कुछ प्रोटेस्टेंट सिद्धांतों के साथ पूर्ववर्ती चर्च परंपराओं के तत्व भी बने रहे।

इंग्लैंड में धर्म-सुधार आंदोलन के परिणामस्वरूप राजसत्ता और चर्च के बीच संबंधों में परिवर्तन हुआ तथा धार्मिक पहचान राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनी।

12. कैथोलिक सुधार और प्रति-सुधार आंदोलन

धर्म-सुधार आंदोलन के जवाब में रोमन कैथोलिक चर्च ने भी अपनी संस्थाओं, शिक्षाओं और धार्मिक अनुशासन में सुधार के प्रयास किए। इस व्यापक प्रक्रिया को कैथोलिक सुधार और प्रति-सुधार आंदोलन (*Catholic Reformation/Counter-Reformation*) कहा जाता है।

12.1 ट्रेंट की परिषद

1545 से 1563 के बीच आयोजित ट्रेंट की परिषद कैथोलिक सुधार का महत्त्वपूर्ण चरण थी।

इस परिषद ने कैथोलिक धर्मशास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों की पुनर्पुष्टि की और चर्च के भीतर कुछ संस्थागत सुधारों को प्रोत्साहित किया।

धर्माधिकारियों के प्रशिक्षण, अनुशासन और धार्मिक शिक्षाओं के प्रसार पर विशेष ध्यान दिया गया।

12.2 जेसुइट संघ

इग्नेशियस लोयोला ने 1540 में सोसाइटी ऑफ जीसस या जेसुइट संघ की स्थापना की।

जेसुइटों ने शिक्षा, मिशनरी गतिविधियों और कैथोलिक धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने यूरोप के अनेक क्षेत्रों में विद्यालयों तथा शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की।

एशिया और अमेरिका में भी जेसुइट मिशनरियों ने धार्मिक तथा शैक्षिक गतिविधियाँ संचालित कीं।

12.3 कैथोलिक सुधार का महत्व

कैथोलिक सुधार के परिणामस्वरूप चर्च के भीतर अनुशासन, शिक्षा और धार्मिक संगठन को मजबूत करने के प्रयास हुए।

इससे स्पष्ट होता है कि सोलहवीं शताब्दी में धार्मिक परिवर्तन केवल प्रोटेस्टेंट आंदोलनों तक सीमित नहीं थे। कैथोलिक चर्च ने भी बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपनी संस्थाओं और धार्मिक जीवन को पुनर्गठित किया।

13. पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन में अंतर

दोनों आंदोलनों ने यूरोप में परंपरागत प्राधिकारों को चुनौती दी, लेकिन उनके उद्देश्य, स्वरूप और परिणामों में अंतर था।

आधार	पुनर्जागरण	धर्म-सुधार आंदोलन
समय	मुख्यतः चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी	मुख्यतः सोलहवीं शताब्दी
प्रारंभिक प्रमुख क्षेत्र	इटली	जर्मन क्षेत्र और स्विट्जरलैंड; बाद में अन्य क्षेत्र
प्रमुख विषय	कला, साहित्य, शिक्षा और मानववाद	धार्मिक सिद्धांत, चर्च और धार्मिक अधिकार
प्रमुख व्यक्तित्व	पेट्रार्क, इरास्मस, लियोनार्डो दा विंची, माइकल एंजेलो	मार्टिन लूथर, जॉन कैल्विन, हेनरी अष्टम
मुख्य उद्देश्य	प्राचीन ज्ञान का पुनर्पाठ और सांस्कृतिक नवाचार	धार्मिक सुधार और चर्च की प्रथाओं की आलोचना
प्रमुख प्रभाव	कला, साहित्य, शिक्षा और बौद्धिक जीवन में परिवर्तन	ईसाई धर्म में विभाजन और धार्मिक संस्थाओं का पुनर्गठन
ज्ञान के प्रसार का माध्यम	पुस्तकें, विश्वविद्यालय, कला और मानववादी नेटवर्क	मुद्रित धार्मिक साहित्य, बाइबिल अनुवाद और धार्मिक बहस
दीर्घकालीन परिणाम	मानववादी शिक्षा और वैज्ञानिक जिज्ञासा को प्रोत्साहन	प्रोटेस्टेंट परंपराओं का विकास और धार्मिक विविधता में वृद्धि

दोनों आंदोलनों के बीच संबंध भी महत्त्वपूर्ण था। मानववादी विद्वत्ता और मुद्रण के विकास ने धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन तथा धर्म-सुधार संबंधी विचारों के प्रसार में सहायता की। फिर भी दोनों को एक ही आंदोलन मानना उचित नहीं है।

14. पुरानी मान्यताओं को चुनौती और धार्मिक-सांस्कृतिक परिवर्तन

पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन ने यूरोपीय समाज की कई पुरानी मान्यताओं और संस्थागत व्यवस्थाओं को प्रभावित किया।

14.1 ज्ञान के स्रोतों पर प्रश्न

पुनर्जागरणकालीन मानववादियों ने प्राचीन ग्रंथों के मूल पाठों, भाषाओं और ऐतिहासिक संदर्भों के अध्ययन पर बल दिया। इससे ग्रंथों की आलोचनात्मक व्याख्या की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

धर्म-सुधारकों ने धार्मिक सिद्धांतों की व्याख्या में बाइबिल के महत्त्व पर बल दिया। इससे धार्मिक प्राधिकार और व्याख्या के प्रश्नों पर व्यापक बहस हुई।

14.2 व्यक्ति और धार्मिक चेतना

मानववाद ने व्यक्तिगत प्रतिभा और बौद्धिक क्षमता को महत्त्व दिया। धर्म-सुधार आंदोलन ने कुछ परंपराओं में व्यक्तिगत विश्वास तथा धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन को विशेष स्थान दिया।

हालाँकि इन परिवर्तनों को आधुनिक व्यक्तिवाद या पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता के समान नहीं माना जा सकता। उस समय के समाज में सामुदायिक धार्मिक पहचान और राजनीतिक नियंत्रण अत्यंत प्रभावशाली बने रहे।

14.3 स्थानीय भाषाओं का विकास

पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के दौरान स्थानीय भाषाओं में साहित्य तथा धार्मिक ग्रंथों के प्रकाशन को बढ़ावा मिला।

लूथर का जर्मन बाइबिल अनुवाद इसका प्रमुख उदाहरण है। स्थानीय भाषाओं में मुद्रण ने पाठकों के नए समूहों तक ज्ञान पहुँचाने में सहायता की।

इस प्रक्रिया ने भाषा, साहित्य और सांस्कृतिक पहचान के विकास को प्रभावित किया।

14.4 शिक्षा और साक्षरता

मुद्रण तकनीक तथा धार्मिक शिक्षा के प्रसार से पढ़ने-लिखने के महत्त्व में वृद्धि हुई।

कुछ प्रोटेस्टेंट परंपराओं में बाइबिल पढ़ने के लिए व्यक्तिगत साक्षरता को विशेष महत्त्व दिया गया। दूसरी ओर, कैथोलिक सुधार ने भी विद्यालयों और धार्मिक शिक्षा की संस्थाओं को मजबूत किया।

इससे शिक्षा के विस्तार के लिए नई परिस्थितियाँ निर्मित हुईं, हालाँकि साक्षरता का स्तर सामाजिक वर्ग, लिंग और क्षेत्र के अनुसार अलग-अलग बना रहा।

14.5 धार्मिक युद्ध और सामाजिक तनाव

धर्म-सुधार आंदोलन ने धार्मिक विविधता को बढ़ाया, लेकिन इससे यूरोप में संघर्ष भी उत्पन्न हुए।

कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों के बीच राजनीतिक तथा धार्मिक संघर्ष हुए। फ्रांस में सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में धार्मिक युद्ध हुए और 1572 में सेंट बार्थोलोम्यू दिवस के नरसंहार में बड़ी संख्या में प्रोटेस्टेंट मारे गए।

1618 से 1648 तक चला तीस वर्षीय युद्ध मध्य यूरोप के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। इसमें धार्मिक प्रश्नों के साथ राजवंशीय प्रतिद्वंद्विता और यूरोपीय शक्ति-संतुलन के मुद्दे भी शामिल थे।

इस प्रकार धार्मिक सुधार ने नई धार्मिक परंपराओं को जन्म दिया, लेकिन तत्काल धार्मिक सहिष्णुता और शांति स्थापित नहीं हुई।

15. आधुनिक युग की ओर संक्रमण में पुनर्जागरण और धर्म-सुधार की भूमिका

पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन ने आधुनिक युग के उदय में महत्वपूर्ण योगदान दिया, लेकिन आधुनिकता का विकास अनेक शताब्दियों में विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ।

15.1 बौद्धिक स्वतंत्रता और आलोचनात्मक चिंतन

पुनर्जागरण ने साहित्य, इतिहास और दर्शन के अध्ययन में नए दृष्टिकोण विकसित किए। मानववादियों ने प्राचीन ग्रंथों के आलोचनात्मक अध्ययन तथा भाषा और ऐतिहासिक संदर्भों की जाँच पर बल दिया।

धर्म-सुधार आंदोलन ने धार्मिक सिद्धांतों और संस्थागत अधिकारों पर बहस को व्यापक बनाया।

इन परिवर्तनों ने यूरोप में बौद्धिक संवाद के नए अवसर पैदा किए। हालाँकि आलोचनात्मक चिंतन और आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का विकास बाद की वैज्ञानिक क्रांति सहित अनेक प्रक्रियाओं से जुड़ा था।

15.2 आधुनिक राज्य और राजनीतिक सत्ता

धर्म-सुधार आंदोलन के बाद यूरोप के कई क्षेत्रों में धार्मिक संस्थाओं और राजनीतिक सत्ता के संबंध बदल गए।

कुछ शासकों ने अपने क्षेत्रों में चर्च पर अधिक नियंत्रण स्थापित किया। इंग्लैंड में राजसत्ता और चर्च के संबंधों का पुनर्गठन इसका उदाहरण है।

बाद के समय में राज्य की संप्रभुता, धार्मिक सहिष्णुता और नागरिक अधिकारों से संबंधित बहसें विकसित हुईं। इन विचारों का विकास लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था, जिसमें धर्म-सुधार के साथ राजनीतिक संघर्षों और दार्शनिक आंदोलनों की भूमिका भी रही।

15.3 शिक्षा और ज्ञान का प्रसार

मुद्रण तकनीक, मानववादी शिक्षा और धार्मिक साहित्य ने ज्ञान के प्रसार को व्यापक बनाया।

पुस्तकों की उपलब्धता में वृद्धि से विद्वानों और पाठकों के बीच संवाद की संभावनाएँ बढ़ीं। वैज्ञानिक और धार्मिक बहसों को व्यापक पाठक समुदाय तक पहुँचने के साधन मिले।

इस प्रक्रिया ने आधुनिक शिक्षा और बौद्धिक सार्वजनिक जीवन के विकास के लिए महत्वपूर्ण आधार निर्मित किए।

15.4 आधुनिक विज्ञान की पृष्ठभूमि

पुनर्जागरणकालीन जिज्ञासा और प्राचीन ज्ञान के अध्ययन ने प्रकृति तथा मानव शरीर के अध्ययन को प्रभावित किया। बाद में वैज्ञानिक क्रांति के दौरान गणित, अवलोकन और प्रयोग की अधिक व्यवस्थित विधियाँ विकसित हुईं।

कोपरनिकस, केप्लर, गैलीलियो और न्यूटन के कार्यों ने प्रकृति की व्याख्या में उल्लेखनीय परिवर्तन किए।

इन उपलब्धियों को पुनर्जागरण का सीधा और एकमात्र परिणाम नहीं कहा जा सकता, लेकिन पुनर्जागरणकालीन बौद्धिक परिवर्तन ने इनके विकास के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान कीं।

15.5 आधुनिक व्यक्तित्व और नागरिक जीवन

पुनर्जागरण मानववाद ने शिक्षा, व्यक्तिगत प्रतिभा और नागरिक जीवन को महत्त्व दिया। इससे व्यक्ति की सामाजिक भूमिका और उपलब्धियों के प्रति नए दृष्टिकोण विकसित हुए।

फिर भी आधुनिक व्यक्तिवाद, लोकतंत्र और मानवाधिकारों का विकास बाद की कई शताब्दियों में हुआ। पुनर्जागरण और धर्म-सुधार को इन सभी आधुनिक अवधारणाओं का पूर्ण विकसित रूप मानना उचित नहीं होगा।

16. पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलनों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन को लंबे समय तक मध्यकालीन अंधकार से आधुनिक प्रगति की ओर संक्रमण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह व्याख्या इन आंदोलनों के महत्त्व को तो स्पष्ट करती है, लेकिन यूरोपीय इतिहास की जटिलता को पूरी तरह व्यक्त नहीं करती।

पहली बात, मध्यकालीन यूरोप पूरी तरह बौद्धिक रूप से निष्क्रिय नहीं था। विश्वविद्यालयों, दर्शन, धर्मशास्त्र, वास्तुकला और प्राकृतिक ज्ञान में अनेक उपलब्धियाँ मध्यकाल में ही विकसित हुई थीं।

दूसरी बात, पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के दौरान धार्मिक आस्था समाप्त नहीं हुई। अनेक मानववादी विद्वान धार्मिक थे और कई कलाकारों की प्रमुख कृतियाँ धार्मिक विषयों पर आधारित थीं।

तीसरी बात, धर्म-सुधार आंदोलन ने धार्मिक स्वतंत्रता को तत्काल स्थापित नहीं किया। इसके परिणामस्वरूप धार्मिक संघर्ष और युद्ध भी हुए। कुछ प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक शासकों ने अपने क्षेत्रों में धार्मिक एकरूपता लागू करने का प्रयास किया।

चौथी बात, आधुनिक युग का उदय केवल यूरोप के आंतरिक विकास से संबंधित नहीं था। एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के साथ व्यापार, उपनिवेशवाद, दासता तथा वैश्विक संपर्कों ने यूरोप के आर्थिक और राजनीतिक विकास को प्रभावित किया।

अंततः पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने ज्ञान, संस्कृति, धार्मिक प्राधिकार और सामाजिक जीवन के संबंधों को नए रूप में व्यवस्थित करने की प्रक्रिया को गति दी। वे आधुनिकता के महत्त्वपूर्ण आधार थे, लेकिन आधुनिक विश्व का निर्माण अनेक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के संयुक्त प्रभाव से हुआ।

17. निष्कर्ष

पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन यूरोप के इतिहास में ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन थे जिन्होंने मध्यकालीन समाज की सांस्कृतिक, बौद्धिक और धार्मिक संरचना को प्रभावित किया।

पुनर्जागरण ने प्राचीन यूनानी-रोमन साहित्य के पुनर्पाठ, मानववाद, कला, साहित्य और शिक्षा के विकास के माध्यम से मानवीय प्रतिभा तथा बौद्धिक जिज्ञासा को नई प्रतिष्ठा प्रदान की। लियोनार्डो दा विंची, माइकल एंजेलो, राफेल और पेट्रार्क जैसे व्यक्तित्व इस सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रमुख प्रतिनिधि थे।

धर्म-सुधार आंदोलन ने रोमन कैथोलिक चर्च की कुछ प्रथाओं और संस्थागत अधिकारों को चुनौती दी। मार्टिन लूथर और जॉन कैल्विन जैसे सुधारकों के विचारों ने प्रोटेस्टेंट परंपराओं के विकास को प्रभावित किया। इंग्लैंड में राजसत्ता और चर्च के संबंधों में परिवर्तन हुआ, जबकि कैथोलिक सुधार ने रोमन कैथोलिक चर्च की संस्थाओं को पुनर्गठित करने में योगदान दिया।

इन आंदोलनों ने शिक्षा, मुद्रण, धार्मिक विचारों, स्थानीय भाषाओं और बौद्धिक संवाद के विकास को प्रोत्साहित किया। इनके प्रभाव से यूरोप में ज्ञान और धार्मिक प्राधिकार के संबंधों पर नई बहसें विकसित हुईं।

हालाँकि इन आंदोलनों ने तत्काल पूर्ण स्वतंत्रता, धार्मिक सहिष्णुता या आधुनिक लोकतंत्र की स्थापना नहीं की। इनके साथ धार्मिक युद्ध, सामाजिक तनाव और राजनीतिक संघर्ष भी जुड़े रहे।

समग्र रूप से, पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन को मध्यकालीन यूरोप से आधुनिक युग की ओर संक्रमण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं के रूप में समझा जाना चाहिए। इन्होंने आधुनिक यूरोप के सांस्कृतिक, धार्मिक और बौद्धिक विकास के लिए नए आधार निर्मित किए, जिन पर बाद की वैज्ञानिक क्रांति, आधुनिक राजनीतिक चिंतन और आधुनिक राज्य का विकास आगे बढ़ा।

संदर्भ ग्रंथ

1. Burckhardt, Jacob. *The Civilization of the Renaissance in Italy* (1860).
2. Kristeller, Paul Oskar. *Renaissance Thought and Its Sources* (1979).
3. Skinner, Quentin. *The Foundations of Modern Political Thought*, Vol. 1 (1978).
4. Elton, G. R. *Reformation Europe, 1517–1559* (1963).
5. MacCulloch, Diarmaid. *The Reformation: A History* (2003).
6. Eisenstein, Elizabeth L. *The Printing Press as an Agent of Change* (1979).

7. Cameron, Euan. *The European Reformation* (1991).

प्रिंटिंग प्रेस की भूमिका तथा सामाजिक और अंतर-राज्यीय युद्धों के स्रोत के रूप में धर्म : तीस वर्षीय युद्ध (1618–1648)

प्रस्तावना

यूरोप के इतिहास में पुनर्जागरण, धर्म-सुधार आंदोलन और वैज्ञानिक क्रांति ने मध्यकालीन व्यवस्था को चुनौती देते हुए आधुनिक युग के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। इस परिवर्तन में दो घटनाओं का विशेष महत्त्व था—पहली, पंद्रहवीं शताब्दी में मुद्रण कला अथवा प्रिंटिंग प्रेस का विकास और दूसरी, सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में धार्मिक मतभेदों के कारण उत्पन्न संघर्ष। प्रिंटिंग प्रेस ने विचारों, ज्ञान और धार्मिक सुधारों को व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचाया, जबकि धार्मिक असहिष्णुता और राजनीतिक स्वार्थों के गठजोड़ ने यूरोप को लंबे समय तक युद्धों में उलझाए रखा। तीस वर्षीय युद्ध (1618–1648) इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

1. **प्रिंटिंग प्रेस की भूमिका**





1.1 प्रिंटिंग प्रेस का आविष्कार और विकास

यूरोप में मुद्रण कला के विकास का श्रेय जर्मनी के आविष्कारक जोहान्स गुटेनबर्ग को दिया जाता है। लगभग 1450 के आसपास उन्होंने चल अक्षरों (Movable Type) पर आधारित मुद्रण तकनीक विकसित की। इससे पहले पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ हाथ से तैयार की जाती थीं, जिसमें अधिक समय और धन लगता था।

गुटेनबर्ग की मुद्रण तकनीक ने पुस्तकों के उत्पादन को तेज, अपेक्षाकृत सस्ता और व्यापक बनाया। लगभग 1455 में मुद्रित गुटेनबर्ग बाइबिल इस तकनीक की प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक थी।

1.2 ज्ञान और शिक्षा का प्रसार

प्रिंटिंग प्रेस के विकास से पुस्तकों की उपलब्धता बढ़ी। इसके परिणामस्वरूप—

1. धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथ अधिक संख्या में उपलब्ध होने लगे।
2. विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थानों में अध्ययन की सुविधाएँ बढ़ीं।
3. प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य का प्रसार हुआ।
4. विज्ञान, गणित, चिकित्सा और भूगोल से संबंधित नई जानकारियाँ फैलने लगीं।
5. शिक्षित मध्यवर्ग और सामान्य पाठकों में ज्ञान के प्रति रुचि विकसित हुई।

इस प्रकार मुद्रण कला ने ज्ञान को केवल मठों, चर्चों और अभिजात वर्ग तक सीमित रहने से मुक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1.3 पुनर्जागरण के प्रसार में भूमिका

पुनर्जागरण का मूल उद्देश्य प्राचीन यूनानी-रोमन ज्ञान, कला, साहित्य और मानवतावादी विचारों का पुनरुत्थान था। मुद्रण कला ने पुनर्जागरण के विचारों को इटली से यूरोप के अन्य क्षेत्रों तक पहुँचाने में सहायता की।

पेट्रार्क, इरास्मस और अन्य मानवतावादी विद्वानों की रचनाएँ व्यापक रूप से प्रसारित हुईं। इससे तर्क, विवेक, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानव-केंद्रित चिंतन को प्रोत्साहन मिला।

1.4 धर्म-सुधार आंदोलन में भूमिका

प्रिंटिंग प्रेस ने धर्म-सुधार आंदोलन को व्यापक जनसमर्थन दिलाने में निर्णायक भूमिका निभाई।

- 1517 में मार्टिन लूथर ने विटेनबर्ग में अपनी 95 स्थापनाएँ (Ninety-Five Theses) प्रस्तुत कीं।
- मुद्रण तकनीक के कारण लूथर के विचार शीघ्र ही जर्मनी और यूरोप के अन्य क्षेत्रों में फैल गए।
- बाइबिल के स्थानीय भाषाओं में अनुवाद और प्रकाशन को प्रोत्साहन मिला।
- चर्च की सत्ता, पादरियों के विशेषाधिकार और क्षमापत्रों (Indulgences) की बिक्री पर प्रश्न उठने लगे।
- सामान्य लोगों को धार्मिक ग्रंथों को स्वयं पढ़ने और उनकी व्याख्या करने का अवसर मिला।

इस प्रकार प्रिंटिंग प्रेस ने धार्मिक ज्ञान पर चर्च के एकाधिकार को कमजोर किया और व्यक्तिगत धार्मिक चेतना को प्रोत्साहित किया।

1.5 राजनीतिक और सामाजिक चेतना का विकास

प्रिंटिंग प्रेस ने केवल धार्मिक विचारों का ही प्रसार नहीं किया, बल्कि राजनीतिक विचारों और सामाजिक आलोचना को भी व्यापक बनाया।

इसके प्रमुख प्रभाव थे—

- राजसत्ता और चर्च की नीतियों की आलोचना का प्रसार।
- राष्ट्रीय भाषाओं और साहित्य का विकास।
- सार्वजनिक बहस और विचार-विमर्श की परंपरा को प्रोत्साहन।
- सुधारवादी और क्रांतिकारी विचारों का प्रसार।
- राष्ट्रीय पहचान तथा जनमत के निर्माण में सहायता।

1.6 वैज्ञानिक क्रांति में योगदान

मुद्रण कला ने वैज्ञानिक ज्ञान के संचरण को अधिक प्रभावी बनाया। कोपरनिकस, गैलीलियो और अन्य वैज्ञानिकों के विचार प्रकाशित पुस्तकों के माध्यम से यूरोप में फैले। वैज्ञानिक निष्कर्षों की तुलना, समीक्षा और पुनर्परीक्षण करना आसान हुआ।

निष्कर्षतः, प्रिंटिंग प्रेस ने पुनर्जागरण, धर्म-सुधार और वैज्ञानिक क्रांति को गति प्रदान की। यह आधुनिक यूरोप में ज्ञान, शिक्षा, आलोचनात्मक चिंतन और जनचेतना के विकास का एक प्रमुख साधन बना।

2. सामाजिक और अंतर-राज्यीय युद्धों के स्रोत के रूप में धर्म

मध्यकालीन और प्रारम्भिक आधुनिक यूरोप में धर्म केवल व्यक्तिगत आस्था का विषय नहीं था, बल्कि राजनीतिक सत्ता, सामाजिक व्यवस्था और राज्य की पहचान का भी आधार था। कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट मतों के बीच संघर्ष ने यूरोप की राजनीति को गहराई से प्रभावित किया।

2.1 धार्मिक विभाजन की पृष्ठभूमि

1517 में मार्टिन लूथर के धर्म-सुधार आंदोलन से पश्चिमी ईसाई जगत में व्यापक विभाजन उत्पन्न हुआ। इसके बाद प्रोटेस्टेंट धर्म की विभिन्न शाखाएँ विकसित हुईं।

प्रमुख धार्मिक समूह थे—

1. रोमन कैथोलिक: पोप के नेतृत्व में संगठित पारंपरिक ईसाई समुदाय।
2. लूथरन: मार्टिन लूथर के विचारों से प्रभावित समुदाय।
3. कैल्विनवादी: जॉन कैल्विन की धार्मिक शिक्षाओं से प्रभावित समुदाय।
4. एंग्लिकन: इंग्लैंड के चर्च से संबंधित धार्मिक समुदाय।

इन मतभेदों ने यूरोप में धार्मिक असहिष्णुता, राजनीतिक प्रतिस्पर्धा और सामाजिक तनाव को बढ़ाया।

2.2 धर्म और राजनीतिक सत्ता का संबंध

यूरोप के शासक अक्सर धार्मिक पहचान को अपनी राजनीतिक शक्ति मजबूत करने के साधन के रूप में इस्तेमाल करते थे। जर्मनी के अनेक राजकुमारों ने प्रोटेस्टेंट धर्म अपनाकर सम्राट और पोप के प्रभाव को चुनौती दी।

इसी प्रकार कैथोलिक शासक अपनी धार्मिक सत्ता और राजनीतिक प्रभुत्व बनाए रखना चाहते थे। परिणामस्वरूप धार्मिक संघर्ष धीरे-धीरे राजनीतिक और क्षेत्रीय संघर्षों में बदलने लगे।

2.3 धार्मिक युद्धों के प्रमुख कारण

- कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों के बीच धार्मिक मतभेद।
- धार्मिक स्वतंत्रता और उपासना के अधिकार का प्रश्न।
- पोप तथा पवित्र रोमन सम्राट की सत्ता को लेकर संघर्ष।
- जर्मन राजकुमारों की राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा।
- यूरोपीय राज्यों के बीच क्षेत्रीय और आर्थिक प्रतिस्पर्धा।
- हैब्सबर्ग राजवंश की शक्ति बढ़ने का भय।
- फ्रांस, स्वीडन और स्पेन जैसी शक्तियों की यूरोपीय प्रभुत्व स्थापित करने की आकांक्षा।

इस प्रकार धर्म युद्धों का महत्त्वपूर्ण कारण था, लेकिन उसके साथ राजनीतिक, आर्थिक और राजवंशीय हित भी जुड़े हुए थे।

3. तीस वर्षीय युद्ध (1618–1648)

3.1 परिचय

तीस वर्षीय युद्ध यूरोप के इतिहास का एक अत्यंत विनाशकारी युद्ध था, जो 1618 से 1648 तक चला। इसका मुख्य केंद्र पवित्र रोमन साम्राज्य का क्षेत्र, विशेषकर जर्मन राज्य थे। प्रारम्भ में यह युद्ध कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों के बीच धार्मिक संघर्ष के रूप में आरम्भ हुआ, लेकिन बाद में यह यूरोप की प्रमुख शक्तियों के बीच राजनीतिक और क्षेत्रीय प्रभुत्व की लड़ाई बन गया।

इस युद्ध में पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट, स्पेन, फ्रांस, स्वीडन, डेनमार्क और अनेक जर्मन राजकुमारों ने विभिन्न चरणों में भाग लिया।

3.2 तीस वर्षीय युद्ध के कारण

(क) धार्मिक कारण

धर्म-सुधार आंदोलन के बाद जर्मनी में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों के बीच तनाव बढ़ गया था। 1555 की ऑग्सबर्ग की संधि ने शासकों को अपने क्षेत्रों में कैथोलिक या लूथरन धर्म चुनने का अधिकार दिया था, लेकिन कैल्विनवाद को इसमें मान्यता नहीं मिली थी। इस कारण धार्मिक विवाद पूरी तरह समाप्त नहीं हुए।

(ख) राजनीतिक कारण

पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट हैब्सबर्ग वंश से थे। वे साम्राज्य में केंद्रीकृत सत्ता और कैथोलिक प्रभाव को मजबूत करना चाहते थे। इसके विपरीत अनेक जर्मन राजकुमार अपनी राजनीतिक स्वायत्तता बनाए रखना चाहते थे।

(ग) आर्थिक और क्षेत्रीय कारण

यूरोप की प्रमुख शक्तियाँ व्यापार, भू-भाग और सामरिक प्रभुत्व के लिए प्रतिस्पर्धा कर रही थीं। स्पेन और ऑस्ट्रिया के हैब्सबर्ग राजवंश का प्रभाव बढ़ने से फ्रांस चिंतित था। स्वीडन और डेनमार्क भी बाल्टिक क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाए रखना चाहते थे।

(घ) धार्मिक असुरक्षा और अविश्वास

कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट शासकों को भय था कि विरोधी समुदाय की राजनीतिक सफलता से उनकी धार्मिक स्थिति और सत्ता कमजोर हो जाएगी। इस असुरक्षा ने युद्ध की परिस्थितियाँ तैयार कीं।

3.3 युद्ध का तात्कालिक कारण : प्राग की खिड़की से अधिकारियों को बाहर फेंकना (1618)

तीस वर्षीय युद्ध का तात्कालिक कारण 23 मई 1618 की प्राग की घटना थी, जिसे इतिहास में Defenestration of Prague कहा जाता है।

बोहेमिया के प्रोटेस्टेंट कुलीनों का हैब्सबर्ग शासकों से धार्मिक अधिकारों और स्वायत्तता को लेकर विवाद था। उन्होंने सम्राट के दो प्रतिनिधियों तथा एक सचिव को प्राग के किले की खिड़की से नीचे फेंक दिया। वे बच गए, लेकिन इस घटना ने विद्रोह को खुला रूप दे दिया।

इसके बाद बोहेमिया के प्रोटेस्टेंटों ने हैब्सबर्ग सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया और यह संघर्ष धीरे-धीरे पूरे यूरोप में फैल गया।

3.4 तीस वर्षीय युद्ध के प्रमुख चरण

इतिहासकार सामान्यतः तीस वर्षीय युद्ध को चार प्रमुख चरणों में विभाजित करते हैं।

(1) बोहेमियन-पैलेटिनेट चरण (1618–1625)

इस चरण में बोहेमिया के प्रोटेस्टेंटों ने हैब्सबर्ग सम्राट फर्डिनेंड द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने फ्रेडरिक पंचम को अपना राजा चुना।

1620 में व्हाइट माउंटेन (White Mountain) के युद्ध में सम्राट की सेना ने प्रोटेस्टेंटों को पराजित कर दिया। इसके बाद बोहेमिया में हैब्सबर्ग सत्ता पुनः स्थापित हुई और प्रोटेस्टेंटों पर कठोर दमन किया गया।

(2) डेनिश चरण (1625–1629)

डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ ने प्रोटेस्टेंटों की सहायता के लिए युद्ध में प्रवेश किया। उनका उद्देश्य धार्मिक समर्थन के साथ-साथ उत्तरी जर्मनी में अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाना भी था।

सम्राट की सेना का नेतृत्व अल्ब्रेख्ट वॉन वालेंस्टाइन और टिली जैसे सेनापतियों ने किया। डेनिश सेना पराजित हुई और 1629 में ल्यूबेक की संधि के माध्यम से डेनमार्क युद्ध से बाहर हो गया।

इसी वर्ष सम्राट फर्डिनेंड द्वितीय ने Restitution Edict जारी किया, जिसके अंतर्गत प्रोटेस्टेंटों से उन चर्च संपत्तियों को वापस लेने का प्रयास किया गया जिन्हें 1552 के बाद अधिग्रहित किया गया था। इससे प्रोटेस्टेंट शासकों की चिंता और बढ़ गई।

(3) स्वीडिश चरण (1630–1635)



स्वीडन के राजा गुस्तावस एडोल्फस ने 1630 में युद्ध में प्रवेश किया। उन्हें फ्रांस से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। उनका उद्देश्य प्रोटेस्टेंट हितों की रक्षा के साथ-साथ बाल्टिक क्षेत्र और उत्तरी जर्मनी में स्वीडन का प्रभाव बढ़ाना था।

1631 में ब्राइटेनफेल्ड के युद्ध में स्वीडिश सेना ने कैथोलिक साम्राज्यवादी सेना को पराजित किया। यह प्रोटेस्टेंट पक्ष की एक महत्त्वपूर्ण विजय थी।

1632 में ल्यूत्जेन के युद्ध में स्वीडिश सेना विजयी रही, लेकिन गुस्तावस एडोल्फस युद्धभूमि में मारे गए। उनके निधन से प्रोटेस्टेंट पक्ष को बड़ा आघात पहुँचा।

1634 में नॉर्डलिंगेन के युद्ध में स्वीडिश सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। इसके बाद 1635 में प्राग की संधि हुई, जिसके अंतर्गत अनेक जर्मन प्रोटेस्टेंट शासकों ने सम्राट के साथ समझौता कर लिया।

(4) फ्रांसीसी-स्वीडिश चरण (1635–1648)

युद्ध का यह चरण सबसे अधिक राजनीतिक स्वरूप वाला था। फ्रांस का नेतृत्व कार्डिनल रिशल्यू की नीतियों से प्रभावित था। यद्यपि फ्रांस कैथोलिक देश था, फिर भी उसने हैब्सबर्ग वंश की बढ़ती शक्ति को रोकने के लिए प्रोटेस्टेंट स्वीडन और जर्मन शक्तियों का समर्थन किया।

1635 में फ्रांस ने प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में प्रवेश किया। इससे स्पष्ट हो गया कि युद्ध का स्वरूप केवल धार्मिक नहीं रह गया था, बल्कि यूरोप में शक्ति-संतुलन स्थापित करने का संघर्ष बन चुका था।

फ्रांस और स्वीडन की सेनाओं ने हैब्सबर्ग शक्तियों पर लगातार दबाव बनाया। अंततः 1648 में युद्ध समाप्त हुआ।

5. **वेस्टफेलिया की संधि (1648)**



24 अक्टूबर 1648 को म्यूनस्टर और ओस्नाब्रुक में हुई संधियों को सामूहिक रूप से वेस्टफेलिया की संधि कहा जाता है। इसने तीस वर्षीय युद्ध का अंत किया और यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए।

4.1 संधि की प्रमुख शर्तें

1. धार्मिक मान्यता: कैथोलिक, लूथरन और कैल्विनवादी मतों को पवित्र रोमन साम्राज्य में मान्यता मिली।
2. जर्मन राजकुमारों की स्वायत्तता: जर्मन राज्यों के शासकों को अपने क्षेत्रों के आंतरिक मामलों और विदेश नीति में अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई, यद्यपि यह स्वतंत्रता पूर्णतः असीमित नहीं थी।
3. फ्रांस को लाभ: फ्रांस को अलसास के कुछ अधिकार और क्षेत्र प्राप्त हुए तथा यूरोप में उसका प्रभाव बढ़ा।
4. स्वीडन को लाभ: स्वीडन को उत्तरी जर्मनी के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्र और बाल्टिक क्षेत्र में प्रभाव प्राप्त हुआ।
5. डच स्वतंत्रता: स्पेन ने संयुक्त नीदरलैंड (डच गणराज्य) की स्वतंत्रता को औपचारिक रूप से स्वीकार किया।
6. स्विस स्वतंत्रता: स्विस परिसंघ की स्वतंत्र स्थिति को मान्यता मिली।

4.2 वेस्टफेलिया की संधि का ऐतिहासिक महत्व

- इसने तीस वर्षीय युद्ध का अंत किया।
- यूरोप में धार्मिक सह-अस्तित्व की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया।

- पवित्र रोमन साम्राज्य की केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई।
- फ्रांस और स्वीडन जैसी शक्तियों का प्रभाव बढ़ा।
- यूरोप में शक्ति-संतुलन की राजनीति को प्रोत्साहन मिला।
- राज्य की क्षेत्रीय संप्रभुता और स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता को महत्व मिला।

वेस्टफेलिया की संधि को प्रायः आधुनिक राज्य-व्यवस्था के विकास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है। हालांकि आधुनिक संप्रभु राष्ट्र-राज्य की व्यवस्था का निर्माण एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी; इसे केवल 1648 की संधि का परिणाम नहीं माना जा सकता।

5. तीस वर्षीय युद्ध के परिणाम और प्रभाव

5.1 राजनीतिक परिणाम

तीस वर्षीय युद्ध ने यूरोप की राजनीतिक संरचना में व्यापक परिवर्तन किए। हैब्सबर्ग राजवंश की शक्ति कमजोर हुई, जबकि फ्रांस यूरोप की प्रमुख शक्ति के रूप में उभरा। स्वीडन को भी राजनीतिक और क्षेत्रीय लाभ प्राप्त हुए।

5.2 धार्मिक परिणाम

युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि धार्मिक एकरूपता को बलपूर्वक स्थापित करना संभव नहीं है। कैथोलिक, लूथरन और कैल्विनवादी समुदायों को मान्यता मिलने से धार्मिक सह-अस्तित्व की दिशा में प्रगति हुई।

5.3 आर्थिक परिणाम

जर्मनी के अनेक क्षेत्र युद्ध के कारण आर्थिक रूप से तबाह हो गए। कृषि उत्पादन घटा, व्यापारिक मार्ग बाधित हुए और अनेक नगरों की अर्थव्यवस्था नष्ट हो गई। युद्ध, अकाल और महामारी ने जनजीवन को प्रभावित किया।

5.4 सामाजिक परिणाम

युद्ध में बड़ी संख्या में सैनिकों और नागरिकों की मृत्यु हुई। अनेक क्षेत्रों में जनसंख्या में भारी गिरावट आई। किसानों को सैनिकों की लूटपाट, जबरन वसूली और विस्थापन का सामना करना पड़ा। सामाजिक व्यवस्था कमजोर हुई और गरीबी तथा असुरक्षा बढ़ी।

5.5 सैन्य परिणाम

युद्ध ने यूरोप में स्थायी सेनाओं, आधुनिक युद्ध तकनीकों और संगठित सैन्य प्रशासन के विकास को प्रोत्साहित किया। राज्यों ने सैन्य शक्ति को अपनी राजनीतिक सुरक्षा का महत्वपूर्ण साधन माना।

5.6 अंतरराष्ट्रीय संबंधों पर प्रभाव

इस युद्ध ने यूरोप में धार्मिक एकता की अपेक्षा राज्य के राजनीतिक हितों और शक्ति-संतुलन को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। फ्रांस का प्रोटेस्टेंट शक्तियों के साथ गठबंधन इसका प्रमुख उदाहरण था।

6. धर्म : सामाजिक और अंतर-राज्यीय युद्धों का स्रोत — एक आलोचनात्मक विश्लेषण

तीस वर्षीय युद्ध इस बात का उदाहरण है कि धर्म किस प्रकार सामाजिक संघर्ष और अंतर-राज्यीय युद्ध का आधार बन सकता है। हालांकि इसे केवल धार्मिक युद्ध कहना ऐतिहासिक रूप से पर्याप्त नहीं होगा।

धर्म ने लोगों को अलग-अलग समुदायों में विभाजित किया और धार्मिक पहचान राजनीतिक निष्ठा का आधार बनी। दूसरी ओर, शासकों ने धार्मिक मतभेदों का उपयोग अपने राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए किया।

इस युद्ध में फ्रांस का व्यवहार विशेष रूप से उल्लेखनीय था। फ्रांस कैथोलिक होते हुए भी प्रोटेस्टेंट स्वीडन के साथ खड़ा हुआ, क्योंकि वह हैब्सबर्ग शक्ति को कमजोर करना चाहता था। इससे स्पष्ट होता है कि यूरोपीय राजनीति में राष्ट्रीय हित और शक्ति-संतुलन धार्मिक एकता से अधिक महत्त्वपूर्ण होते जा रहे थे।

इसलिए तीस वर्षीय युद्ध को धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और राजवंशीय कारणों के सम्मिलित परिणाम के रूप में समझना अधिक उचित है।

निष्कर्ष

प्रिंटिंग प्रेस और तीस वर्षीय युद्ध यूरोप के आधुनिक इतिहास की दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। प्रिंटिंग प्रेस ने ज्ञान, शिक्षा, पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के विचारों को व्यापक समाज तक पहुँचाकर मध्यकालीन बौद्धिक व्यवस्था को चुनौती दी। दूसरी ओर, धार्मिक मतभेदों और राजनीतिक स्वार्थों के टकराव ने यूरोप को तीस वर्षीय युद्ध जैसी विनाशकारी घटना की ओर धकेल दिया।

1648 की वेस्टफेलिया संधि ने धार्मिक सह-अस्तित्व, राज्य की स्वायत्तता और शक्ति-संतुलन की राजनीति को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार इन घटनाओं ने यूरोप को मध्यकालीन धार्मिक-राजनीतिक व्यवस्था से आधुनिक राज्य व्यवस्था, बौद्धिक स्वतंत्रता और राजनीतिक यथार्थवाद की दिशा में आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

तीस वर्षीय युद्ध (1618–1648) का स्वरूप (Nature) और 1648 की वेस्टफेलिया की संधि का महत्त्व

प्रस्तावना

तीस वर्षीय युद्ध (Thirty Years' War, 1618–1648) यूरोप के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यह युद्ध प्रारम्भ में पवित्र रोमन साम्राज्य के कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों के बीच धार्मिक संघर्ष के रूप में शुरू हुआ, लेकिन धीरे-धीरे यूरोप की प्रमुख शक्तियों के बीच राजनीतिक, आर्थिक और क्षेत्रीय प्रभुत्व की लड़ाई में बदल गया। इस युद्ध ने जर्मनी सहित मध्य यूरोप के बड़े हिस्से को विनाशकारी रूप से प्रभावित किया।

1648 में संपन्न वेस्टफेलिया की संधि (Peace of Westphalia) ने इस युद्ध का अंत किया। इस संधि ने यूरोप की धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। इसे आधुनिक राज्य-व्यवस्था, क्षेत्रीय संप्रभुता और शक्ति-संतुलन की राजनीति के विकास में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है।

1. तीस वर्षीय युद्ध का स्वरूप (Nature of the Thirty Years' War)

तीस वर्षीय युद्ध के स्वरूप को समझने के लिए इसे केवल धार्मिक युद्ध के रूप में देखना पर्याप्त नहीं है। यह धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और अंतरराष्ट्रीय संघर्षों का सम्मिलित रूप था।

1.1 धार्मिक स्वरूप

तीस वर्षीय युद्ध का प्रारम्भ कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों के बीच धार्मिक मतभेदों के कारण हुआ।

- 1517 में मार्टिन लूथर के धर्म-सुधार आंदोलन के बाद यूरोप में ईसाई धर्म का विभाजन हुआ।
- कैथोलिक चर्च अपनी पारंपरिक सत्ता और धार्मिक प्रभाव बनाए रखना चाहता था।
- प्रोटेस्टेंट समुदाय धार्मिक स्वतंत्रता और अपने मतों की मान्यता की माँग कर रहे थे।
- पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट फर्डिनेंड द्वितीय कैथोलिक धर्म को मजबूत करना चाहते थे।
- प्रोटेस्टेंट जर्मन राजकुमार अपनी धार्मिक और राजनीतिक स्वतंत्रता सुरक्षित रखना चाहते थे।

इस प्रकार युद्ध का प्रारम्भ धार्मिक मतभेदों और धार्मिक अधिकारों के प्रश्न से हुआ।

1.2 राजनीतिक स्वरूप

युद्ध के आगे बढ़ने के साथ धार्मिक उद्देश्यों के अतिरिक्त राजनीतिक हित भी प्रमुख हो गए।

पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट जर्मन राज्यों पर अपनी केंद्रीय सत्ता मजबूत करना चाहते थे। दूसरी ओर, अनेक जर्मन राजकुमार अपनी स्वायत्तता बनाए रखना चाहते थे।

फ्रांस, स्वीडन और डेनमार्क जैसे राज्यों ने भी अपने राजनीतिक हितों के अनुसार युद्ध में हस्तक्षेप किया। विशेष रूप से फ्रांस ने कैथोलिक होते हुए भी प्रोटेस्टेंट शक्तियों का समर्थन किया, क्योंकि वह हैब्सबर्ग राजवंश की बढ़ती शक्ति को रोकना चाहता था।

इससे स्पष्ट होता है कि युद्ध का स्वरूप धार्मिक संघर्ष से आगे बढ़कर राजनीतिक प्रभुत्व की लड़ाई बन गया था।

1.3 अंतर-राज्यीय स्वरूप

तीस वर्षीय युद्ध केवल जर्मनी का आंतरिक संघर्ष नहीं रहा। इसमें यूरोप की अनेक शक्तियाँ शामिल हो गईं।

प्रमुख शक्ति	**युद्ध में भूमिका**
पवित्र रोमन साम्राज्य	कैथोलिक सत्ता और साम्राज्य की एकता बनाए रखने का प्रयास
स्पेन	हैब्सबर्ग हितों का समर्थन
डेनमार्क	प्रोटेस्टेंट शक्तियों का समर्थन और उत्तरी जर्मनी में प्रभाव बढ़ाने का प्रयास
स्वीडन	प्रोटेस्टेंट हितों की रक्षा और बाल्टिक क्षेत्र में प्रभाव विस्तार
फ्रांस	हैब्सबर्ग शक्ति को सीमित करने के लिए युद्ध में प्रवेश
जर्मन राजकुमार	धार्मिक अधिकारों और राजनीतिक स्वायत्तता की रक्षा

इस प्रकार युद्ध ने अंतरराष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

1.4 आर्थिक स्वरूप

तीस वर्षीय युद्ध के पीछे आर्थिक हित भी महत्त्वपूर्ण थे।

- यूरोप की प्रमुख शक्तियाँ व्यापारिक मार्गों और आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण चाहती थीं।
- बाल्टिक क्षेत्र में व्यापारिक प्रभुत्व के लिए स्वीडन और डेनमार्क के बीच प्रतिस्पर्धा थी।
- जर्मनी के समृद्ध क्षेत्रों पर नियंत्रण राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।
- युद्ध के खर्च को पूरा करने के लिए शासकों ने जनता पर भारी कर लगाए।
- सैनिकों की लूटपाट और जबरन वसूली ने स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं को नुकसान पहुँचाया।

इसलिए आर्थिक हितों ने भी युद्ध को लंबा खींचने में भूमिका निभाई।

1.5 सामाजिक और मानवीय स्वरूप

तीस वर्षीय युद्ध ने यूरोप के सामाजिक जीवन को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

- जर्मनी के अनेक नगर और गाँव नष्ट हो गए।
- कृषि उत्पादन में भारी गिरावट आई।
- अकाल और महामारी का प्रसार हुआ।
- सैनिकों की लूटपाट और हिंसा से नागरिक जीवन असुरक्षित हो गया।
- बड़ी संख्या में लोग विस्थापित हुए।
- जनसंख्या में गिरावट आई और सामाजिक व्यवस्था कमजोर हुई।

युद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी की आर्थिक और सामाजिक पुनर्बहाली में कई दशक लगे।

1.6 राजवंशीय और शक्ति-संतुलन का स्वरूप

इस युद्ध में हैब्सबर्ग राजवंश की शक्ति को चुनौती देना एक प्रमुख उद्देश्य बन गया था। फ्रांस हैब्सबर्ग के प्रभाव को सीमित करना चाहता था, जबकि स्वीडन उत्तरी यूरोप में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था।

युद्ध के अंतिम चरण में धार्मिक एकता की अपेक्षा राजनीतिक और राजवंशीय हित अधिक निर्णायक हो गए।

1.7 युद्ध के स्वरूप का मूल्यांकन

तीस वर्षीय युद्ध के स्वरूप का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

1. युद्ध की शुरुआत धार्मिक विवादों से हुई।
2. जर्मन राजकुमारों की राजनीतिक स्वायत्तता ने संघर्ष को व्यापक बनाया।

3. यूरोपीय शक्तियों के क्षेत्रीय और राजवंशीय हित इसमें शामिल हुए।
4. फ्रांस के हस्तक्षेप ने इसे व्यापक अंतरराष्ट्रीय संघर्ष बना दिया।
5. युद्ध के दौरान धार्मिक पहचान और राजनीतिक स्वार्थ एक-दूसरे से जुड़े रहे।

अतः तीस वर्षीय युद्ध को केवल धार्मिक युद्ध न मानकर धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और अंतरराष्ट्रीय हितों के जटिल संघर्ष के रूप में समझना चाहिए।

2. वेस्टफेलिया की संधि (1648)







2.1 संधि की पृष्ठभूमि

लगभग तीस वर्षों तक चले युद्ध ने यूरोप की अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीतिक व्यवस्था को गंभीर रूप से प्रभावित किया। जर्मनी के अनेक क्षेत्र बर्बाद हो चुके थे। यूरोपीय शक्तियाँ भी लगातार युद्ध से थक चुकी थीं।

युद्ध समाप्त करने के लिए विभिन्न पक्षों के बीच शांति वार्ताएँ प्रारम्भ हुईं। ये वार्ताएँ 1644 से वेस्टफेलिया क्षेत्र के दो नगरों—म्यूनस्टर और ओस्नाब्रुक—में चलीं।

अंततः 24 अक्टूबर 1648 को दो प्रमुख समझौते हुए, जिन्हें सामूहिक रूप से वेस्टफेलिया की संधि कहा जाता है।

2.2 वेस्टफेलिया की संधि की प्रमुख शर्तें

1. धार्मिक मान्यता

इस संधि के अंतर्गत कैथोलिक, लूथरन और कैल्विनवादी धार्मिक समुदायों को पवित्र रोमन साम्राज्य में मान्यता प्रदान की गई। इससे धार्मिक विवादों को सीमित करने का प्रयास हुआ।

2. जर्मन राज्यों की स्वायत्तता

जर्मन राजकुमारों को अपने राज्यों के आंतरिक मामलों में अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। उन्हें कुछ सीमा तक स्वतंत्र विदेश नीति और अन्य राज्यों के साथ संधि करने का अधिकार भी मिला, बशर्ते वह सम्राट और साम्राज्य के हितों के विरुद्ध न हो।

3. फ्रांस को क्षेत्रीय लाभ

फ्रांस को अलसास के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार और अन्य क्षेत्रीय लाभ प्राप्त हुए। इससे पश्चिमी यूरोप में फ्रांस की स्थिति मजबूत हुई।

4. स्वीडन को क्षेत्रीय लाभ

स्वीडन को उत्तरी जर्मनी के कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों, जैसे पश्चिमी पोमेरानिया के हिस्सों तथा अन्य क्षेत्रों पर अधिकार प्राप्त हुए। इससे बाल्टिक क्षेत्र में उसका प्रभाव बढ़ा।

5. डच गणराज्य की स्वतंत्रता

स्पेन ने संयुक्त नीदरलैंड (Dutch Republic) की स्वतंत्रता को औपचारिक रूप से स्वीकार किया। इससे डच स्वतंत्रता संघर्ष को अंतरराष्ट्रीय मान्यता मिली।

6. स्विट्जरलैंड की स्वतंत्रता की मान्यता

स्विस परिसंघ की स्वतंत्र स्थिति को भी मान्यता मिली। इससे उसकी पवित्र रोमन साम्राज्य से व्यावहारिक स्वतंत्रता की पुष्टि हुई।

7. हैब्सबर्ग सत्ता की सीमाएँ

पवित्र रोमन सम्राट की केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई और जर्मन राज्यों की स्वायत्तता को मजबूती मिली।

3. वेस्टफेलिया की संधि का महत्व

वेस्टफेलिया की संधि को यूरोपीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और कूटनीतिक घटना माना जाता है। इसका महत्त्व निम्नलिखित बिंदुओं से स्पष्ट होता है।

3.1 तीस वर्षीय युद्ध का अंत

इस संधि का सबसे पहला महत्त्व यह था कि इसने 1618 से चल रहे विनाशकारी युद्ध का अंत किया। यूरोप को लंबे समय तक चले धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष से राहत मिली।

3.2 धार्मिक सह-अस्तित्व को प्रोत्साहन

इस संधि ने कैथोलिक, लूथरन और कैल्विनवादी समुदायों को मान्यता प्रदान की। इससे धार्मिक विविधता को स्वीकार करने की दिशा में प्रगति हुई।

हालाँकि इस संधि ने आधुनिक अर्थों में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता स्थापित नहीं की, लेकिन इसने धार्मिक संघर्षों को सीमित करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण आधार तैयार किया।

3.3 आधुनिक राज्य-व्यवस्था का विकास

वेस्टफेलिया की संधि को आधुनिक राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के विकास में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है।

इसने राज्यों की क्षेत्रीय सीमाओं, राजनीतिक अधिकारों और आंतरिक मामलों में स्वायत्तता के विचार को बल दिया। बाद के समय में संप्रभुता का सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय संबंधों का एक महत्त्वपूर्ण आधार बना।

3.4 शक्ति-संतुलन की राजनीति

इस संधि ने यूरोप में किसी एक राजवंश या राज्य के अत्यधिक शक्तिशाली होने की प्रवृत्ति को सीमित करने वाली शक्ति-संतुलन की राजनीति को प्रोत्साहित किया।

फ्रांस और स्वीडन को लाभ मिला, जबकि हैब्सबर्ग राजवंश की शक्ति सीमित हुई। इससे यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था में नए शक्ति-संबंध विकसित हुए।

3.5 पवित्र रोमन साम्राज्य की केंद्रीय सत्ता का कमजोर होना

इस संधि के बाद पवित्र रोमन सम्राट की केंद्रीय सत्ता पहले की तुलना में कमजोर हुई। जर्मन राज्यों को अधिक स्वायत्तता मिली। इससे जर्मनी लंबे समय तक अनेक स्वतंत्र और अर्ध-स्वतंत्र राज्यों में विभाजित रहा।

3.6 कूटनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों का विकास

वेस्टफेलिया की शांति वार्ताओं ने बहुपक्षीय कूटनीति के विकास को प्रोत्साहित किया। विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों ने वार्ता और समझौते के माध्यम से संघर्ष समाप्त करने का प्रयास किया।

इसने यूरोप में स्थायी राजनयिक संबंधों और संधि-आधारित अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के विकास में योगदान दिया।

3.7 डच और स्विस स्वतंत्रता की पुष्टि

डच गणराज्य और स्विट्जरलैंड की स्वतंत्र स्थिति को मान्यता मिलने से यूरोप के राजनीतिक मानचित्र में परिवर्तन हुआ। इससे हैब्सबर्ग प्रभाव को भी चुनौती मिली।

3.8 चर्च और राज्य के संबंधों में परिवर्तन

संधि ने धार्मिक सत्ता और राजनीतिक सत्ता के संबंधों में बदलाव को प्रोत्साहित किया। यूरोपीय राज्यों के शासकों ने धार्मिक एकरूपता की अपेक्षा राजनीतिक स्थिरता और राज्य के हितों को अधिक महत्त्व देना प्रारम्भ किया।

4. वेस्टफेलिया की संधि के महत्त्व पर इतिहासकारों के बीच बहस

वेस्टफेलिया की संधि का महत्त्व केवल युद्ध समाप्त करने तक सीमित नहीं है। इतिहासकारों और अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विद्वानों के बीच इस बात पर बहस होती रही है कि क्या 1648 को आधुनिक संप्रभु राष्ट्र-राज्य व्यवस्था का वास्तविक जन्म माना जा सकता है।

इस बहस को दो प्रमुख दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है।

4.1 परंपरागत दृष्टिकोण : आधुनिक राज्य-व्यवस्था का आरम्भ

परंपरागत व्याख्या के अनुसार वेस्टफेलिया की संधि आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का आधार बनी।

इसके समर्थन में प्रमुख तर्क हैं—

- राज्यों की क्षेत्रीय संप्रभुता के विचार को प्रोत्साहन मिला।
- बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप को सीमित करने की प्रवृत्ति विकसित हुई।
- जर्मन राज्यों की राजनीतिक स्वायत्तता को मान्यता मिली।
- धार्मिक विवादों की अपेक्षा राजनीतिक हितों को महत्त्व मिलने लगा।
- शक्ति-संतुलन और कूटनीतिक समझौतों का महत्त्व बढ़ा।

इस दृष्टिकोण में वेस्टफेलिया को मध्यकालीन धार्मिक-राजनीतिक व्यवस्था से आधुनिक राज्य-व्यवस्था की ओर संक्रमण का महत्त्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है।

4.2 संशोधनवादी दृष्टिकोण : वेस्टफेलिया की संधि का सीमित महत्त्व

कुछ आधुनिक इतिहासकारों का मानना है कि वेस्टफेलिया की संधि को आधुनिक संप्रभुता का एकमात्र जन्मस्थान मानना अतिशयोक्ति है।

उनके प्रमुख तर्क हैं—

1. संप्रभुता की अवधारणा 1648 से पहले भी विकसित हो रही थी।
2. संधि ने पवित्र रोमन साम्राज्य को समाप्त नहीं किया; वह 1806 तक अस्तित्व में रहा।
3. जर्मन राज्यों की स्वायत्तता बढ़ी, लेकिन वे पूरी तरह आधुनिक स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य नहीं बने।
4. संधि ने धार्मिक और राजनीतिक अधिकारों को पूरी तरह अलग नहीं किया।

5. आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का विकास कई शताब्दियों में हुआ, इसलिए इसे केवल एक संधि से जोड़ना उचित नहीं है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार वेस्टफेलिया की संधि महत्त्वपूर्ण अवश्य थी, लेकिन आधुनिक राज्य-व्यवस्था का निर्माण एक क्रमिक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी।

4.3 दोनों दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन

आधार	परंपरागत दृष्टिकोण	संशोधनवादी दृष्टिकोण
संप्रभुता	आधुनिक संप्रभुता का महत्त्वपूर्ण आरम्भ	संप्रभुता पहले से विकसित हो रही थी
राज्य व्यवस्था	आधुनिक राष्ट्र-राज्य व्यवस्था की नींव	आधुनिक राज्य का विकास क्रमिक था
धार्मिक व्यवस्था	धार्मिक संघर्षों को सीमित किया	धार्मिक और राजनीतिक सत्ता पूरी तरह अलग नहीं हुई
जर्मनी	राज्यों की स्वायत्तता को मान्यता	जर्मन राज्य पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र नहीं बने
अंतरराष्ट्रीय संबंध	आधुनिक कूटनीति का महत्त्वपूर्ण पड़ाव	कूटनीति का विकास पहले से जारी था

4.4 संतुलित ऐतिहासिक मूल्यांकन

वेस्टफेलिया की संधि को न तो आधुनिक संप्रभु राष्ट्र-राज्य व्यवस्था का पूर्ण जन्मस्थान मानना चाहिए और न ही इसके महत्त्व को कम करके देखना चाहिए।

इसका वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि इसने यूरोप में धार्मिक संघर्षों के समाधान, राज्यों की स्वायत्तता, क्षेत्रीय अधिकारों और शक्ति-संतुलन की राजनीति को संस्थागत रूप देने में योगदान दिया।

इस प्रकार यह संधि मध्यकालीन व्यवस्था से आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों की ओर संक्रमण का एक महत्त्वपूर्ण चरण थी।

5. तीस वर्षीय युद्ध और वेस्टफेलिया की संधि : तुलनात्मक निष्कर्ष

तीस वर्षीय युद्ध	वेस्टफेलिया की संधि
1618 में प्रारम्भ	1648 में संपन्न
धार्मिक विवादों से शुरुआत	धार्मिक और राजनीतिक समझौते का परिणाम
कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट संघर्ष	तीन प्रमुख ईसाई मतों को मान्यता

यूरोप में व्यापक विनाश	युद्ध का अंत और शांति की स्थापना
हैब्सबर्ग प्रभुत्व की चुनौती	हैब्सबर्ग शक्ति पर सीमाएँ
जर्मनी में राजनीतिक अस्थिरता	जर्मन राज्यों की स्वायत्तता में वृद्धि
शक्ति-संघर्ष का विस्तार	शक्ति-संतुलन की राजनीति को प्रोत्साहन

निष्कर्ष

तीस वर्षीय युद्ध यूरोप के इतिहास में धार्मिक और राजनीतिक संघर्षों के अंतर्संबंध का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। यह युद्ध कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों के बीच धार्मिक विवाद से प्रारम्भ हुआ, लेकिन समय के साथ यूरोपीय शक्तियों के राजनीतिक, आर्थिक और राजवंशीय हितों का संघर्ष बन गया। इसने जर्मनी और मध्य यूरोप को व्यापक विनाश की ओर धकेला।

1648 की वेस्टफेलिया की संधि ने इस युद्ध का अंत करते हुए धार्मिक सह-अस्तित्व, जर्मन राज्यों की स्वायत्तता, क्षेत्रीय अधिकारों और शक्ति-संतुलन की राजनीति को प्रोत्साहित किया। यद्यपि आधुनिक संप्रभु राष्ट्र-राज्य व्यवस्था का विकास केवल इस संधि का परिणाम नहीं था, फिर भी यूरोप की राजनीतिक और कूटनीतिक व्यवस्था के इतिहास में इसका स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन, रूस, ऑटोमन साम्राज्य तथा चीन के मांचू अथवा छिंग साम्राज्य में निरंकुश राजशाही

प्रस्तावना

यूरोप और एशिया के इतिहास में सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच निरंकुश राजतंत्र (Absolute Monarchy) का व्यापक विकास हुआ। मध्यकालीन सामंतवादी व्यवस्था के कमजोर होने, व्यापार एवं वाणिज्य के विस्तार, स्थायी सेनाओं के निर्माण तथा केंद्रीकृत प्रशासन के विकास ने राजाओं की शक्ति को मजबूत किया। इस व्यवस्था में राजा राज्य की सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता का केंद्र बन गया। वह प्रशासन, न्याय, सेना, विदेश नीति और कर व्यवस्था पर व्यापक नियंत्रण स्थापित करने लगा।

यूरोप में फ्रांस और स्पेन निरंकुश राजतंत्र के प्रमुख उदाहरण बने, जबकि रूस में जारों ने निरंकुश सत्ता स्थापित की। इंग्लैंड में निरंकुश राजतंत्र की स्थापना का प्रयास हुआ, लेकिन संसद और राजसत्ता के संघर्ष के परिणामस्वरूप संवैधानिक राजतंत्र विकसित हुआ। इसी समय एशिया में ऑटोमन साम्राज्य तथा चीन के मांचू अथवा छिंग साम्राज्य में भी केंद्रीकृत और शक्तिशाली राजसत्ता का विकास हुआ।

1. निरंकुश राजतंत्र का अर्थ एवं विशेषताएँ

निरंकुश राजतंत्र ऐसी शासन व्यवस्था थी जिसमें राजा अथवा सम्राट के हाथों में राज्य की सर्वोच्च सत्ता केंद्रित रहती थी। वह सामान्यतः किसी निर्वाचित संस्था के प्रति उत्तरदायी नहीं होता था। उसकी सत्ता को धार्मिक, परंपरागत अथवा राजवंशीय मान्यताओं से वैधता प्रदान की जाती थी।

निरंकुश राजतंत्र की प्रमुख विशेषताएँ

1. राजा की सर्वोच्च सत्ता: शासन की प्रमुख शक्तियाँ राजा के हाथों में केंद्रित रहती थीं।
2. केंद्रीकृत प्रशासन: प्रांतों और स्थानीय प्रशासन पर केंद्रीय नियंत्रण स्थापित किया जाता था।
3. स्थायी सेना: सामंती सेनाओं के स्थान पर राजा के नियंत्रण में स्थायी सेना विकसित की गई।
4. कर व्यवस्था: राज्य की आय बढ़ाने के लिए नियमित कर प्रणाली विकसित हुई।
5. नौकरशाही का विकास: प्रशासन चलाने के लिए अधिकारियों और कर्मचारियों का विस्तृत तंत्र बनाया गया।
6. धर्म का राजनीतिक उपयोग: राजा अपनी सत्ता को ईश्वर प्रदत्त अथवा धार्मिक परंपराओं से वैधता प्रदान करता था।
7. सामंतों पर नियंत्रण: सामंतों और क्षेत्रीय शक्तियों के राजनीतिक प्रभाव को सीमित किया गया।
8. विदेश नीति पर नियंत्रण: युद्ध, शांति और कूटनीतिक संबंधों के निर्णय राजा के अधीन रहे।

2. इंग्लैंड में निरंकुश राजतंत्र

इंग्लैंड में ट्यूडर और स्टुअर्ट राजवंशों के शासनकाल में राजसत्ता को मजबूत करने के प्रयास किए गए। हालांकि इंग्लैंड में निरंकुश राजतंत्र फ्रांस की तरह पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो सका, क्योंकि वहाँ संसद, सामान्य कानून और राजनीतिक परंपराएँ राजसत्ता पर अंकुश लगाती थीं।

2.1 ट्यूडर राजवंश और राजसत्ता का सुदृढ़ीकरण

1485 में हेनरी सप्तम ने बोसवर्थ के युद्ध में विजय प्राप्त करके ट्यूडर राजवंश की स्थापना की। उसने सामंतों की शक्ति सीमित की और राजकीय आय तथा प्रशासन को मजबूत किया।

उसके उत्तराधिकारी हेनरी अष्टम (1509–1547) ने राजसत्ता को और अधिक शक्तिशाली बनाया।

हेनरी अष्टम की प्रमुख उपलब्धियाँ

- 1534 के एक्ट ऑफ सुप्रीमेसी द्वारा इंग्लैंड के चर्च का सर्वोच्च प्रमुख स्वयं को घोषित किया।
- पोप के राजनीतिक और धार्मिक प्रभाव को समाप्त किया।
- मठों की संपत्ति का अधिग्रहण किया।
- राजकोष और राजसत्ता को मजबूत बनाया।
- सामंतों और चर्च की स्वतंत्र शक्ति को सीमित किया।

इस प्रकार इंग्लैंड में धार्मिक सुधार के माध्यम से राजसत्ता का केंद्रीकरण हुआ।

2.2 एलिजाबेथ प्रथम (1558–1603)

एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल में इंग्लैंड की राजसत्ता, व्यापार और समुद्री शक्ति का विकास हुआ।

प्रमुख उपलब्धियाँ—

1. इंग्लैंड में धार्मिक स्थिरता स्थापित करने का प्रयास।
2. 1559 के धार्मिक समझौते द्वारा एंग्लिकन चर्च की स्थिति मजबूत करना।
3. समुद्री व्यापार और नौसेना का विकास।
4. स्पेनिश आर्माडा (1588) को पराजित करने में सफलता।
5. साहित्य, कला और नाटक का विकास।

एलिजाबेथ के शासन में राजसत्ता मजबूत हुई, लेकिन संसद की परंपरा समाप्त नहीं हुई।

2.3 स्टुअर्ट राजवंश और संसद से संघर्ष

1603 में एलिजाबेथ प्रथम की मृत्यु के बाद स्कॉटलैंड के जेम्स षष्ठम इंग्लैंड के जेम्स प्रथम बने। इस प्रकार स्टुअर्ट राजवंश का शासन प्रारम्भ हुआ।

जेम्स प्रथम (1603–1625) दैवी अधिकार सिद्धांत (Divine Right of Kings) में विश्वास करता था। उसका मानना था कि राजा को सत्ता ईश्वर से प्राप्त होती है और वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है।

उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स प्रथम (1625–1649) ने संसद की सहमति के बिना कर लगाने और शासन चलाने का प्रयास किया। इससे राजा और संसद के बीच संघर्ष बढ़ा।

महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

- 1628 : संसद ने पेटिशन ऑफ राइट प्रस्तुत की।
- 1629 : चार्ल्स प्रथम ने संसद भंग कर दी।
- 1642 : राजा और संसद के बीच गृहयुद्ध प्रारम्भ हुआ।
- 1649 : चार्ल्स प्रथम को मृत्युदंड दिया गया।
- 1649–1660 : इंग्लैंड में गणतांत्रिक शासन और बाद में क्रॉमवेल का प्रोटेक्टर शासन।
- 1660 : राजतंत्र की पुनर्स्थापना।
- 1688 : गौरवपूर्ण क्रांति (Glorious Revolution)।
- 1689 : बिल ऑफ राइट्स द्वारा संसदीय सर्वोच्चता की दिशा मजबूत हुई।

2.4 इंग्लैंड में निरंकुश राजतंत्र का अंत

1688 की गौरवपूर्ण क्रांति के परिणामस्वरूप जेम्स द्वितीय को सत्ता छोड़नी पड़ी और विलियम तृतीय तथा मैरी द्वितीय को शासन सौंपा गया। 1689 के बिल ऑफ राइट्स ने राजसत्ता पर संसदीय नियंत्रण स्थापित किया।

निष्कर्ष: इंग्लैंड में निरंकुश राजतंत्र स्थापित करने के प्रयास हुए, लेकिन संसद और नागरिक अधिकारों की परंपरा के कारण वहाँ संवैधानिक राजतंत्र का विकास हुआ।

3. फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र

फ्रांस निरंकुश राजतंत्र का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी राजाओं ने सामंतों की शक्ति सीमित करके केंद्रीय सत्ता को मजबूत बनाया। लुई चौदहवें का शासन फ्रांसीसी निरंकुश राजतंत्र का चरम माना जाता है।

3.1 हेनरी चतुर्थ (1589–1610)

फ्रांस में धार्मिक युद्धों के कारण राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई थी। हेनरी चतुर्थ ने सत्ता संभालने के बाद देश में शांति और स्थिरता स्थापित करने का प्रयास किया।

उसकी प्रमुख उपलब्धियाँ—

- 1598 में नांत की आज्ञप्ति (Edict of Nantes) जारी की।
- हुगोनॉट प्रोटेस्टेंटों को सीमित धार्मिक अधिकार प्रदान किए।
- कृषि, व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन दिया।
- वित्तीय व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया।
- केंद्रीय राजसत्ता को मजबूत बनाया।

3.2 कार्डिनल रिशल्यू (1624–1642)

लुई तेरहवें के शासनकाल में कार्डिनल रिशल्यू ने प्रमुख मंत्री के रूप में फ्रांस की राजनीति को प्रभावित किया।

उसकी नीतियाँ—

1. सामंतों की राजनीतिक शक्ति को सीमित करना।
2. राजा की केंद्रीय सत्ता को मजबूत बनाना।
3. प्रशासनिक व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित करना।
4. हैब्सबर्ग राजवंश के प्रभाव को सीमित करना।
5. फ्रांस को यूरोप की प्रमुख शक्ति बनाना।

रिशल्यू ने फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र के लिए आधार तैयार किया।

3.3 लुई चौदहवाँ (1643–1715)

लुई चौदहवाँ फ्रांस का सबसे प्रसिद्ध निरंकुश शासक था। उसने 1643 से 1715 तक शासन किया। उसे सूर्य राजा (Sun King) कहा जाता था।

उससे संबंधित प्रसिद्ध कथन है— “L'État, c'est moi” अर्थात् “राज्य मैं हूँ।” हालांकि इस कथन की ऐतिहासिक प्रामाणिकता विवादित है, लेकिन यह उसकी निरंकुश शासन-छवि को व्यक्त करता है।

लुई चौदहवें की प्रमुख नीतियाँ

1. राजसत्ता का केंद्रीकरण: उसने शासन की सर्वोच्च शक्ति अपने हाथों में केंद्रित की और मंत्रियों को अपने अधीन रखा।

2. वर्साय का महल: उसने वर्साय को राजदरबार और शासन का केंद्र बनाया। सामंतों को दरबार में रखकर उनकी स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति सीमित की।

3. प्रशासनिक सुधार: इंटेंडेंट नामक अधिकारियों के माध्यम से प्रांतों पर केंद्रीय नियंत्रण मजबूत किया।

4. आर्थिक नीति: उसके वित्त मंत्री जाँ-बाप्तिस्त कोलबेयर ने उद्योग, व्यापार, निर्यात और नौसेना को प्रोत्साहित किया। उसकी नीतियाँ वाणिज्यवाद (Mercantilism) से प्रभावित थीं।

5. धार्मिक नीति: 1685 में नांत की आज्ञप्ति को निरस्त कर दिया गया। इससे ह्युगोनॉट समुदाय पर दबाव बढ़ा और अनेक लोग फ्रांस छोड़कर चले गए।

6. विदेश नीति: लुई चौदहवें ने फ्रांस की सीमाओं और यूरोप में प्रभाव बढ़ाने के लिए अनेक युद्ध लड़े।

3.4 फ्रांसीसी निरंकुशता के परिणाम

- राजसत्ता अत्यंत शक्तिशाली हुई।
- फ्रांस यूरोप की प्रमुख राजनीतिक और सांस्कृतिक शक्ति बना।
- वर्साय का दरबार यूरोपीय राजदरबारों के लिए आदर्श बना।
- निरंतर युद्धों और राजकीय खर्च ने वित्तीय संकट पैदा किया।
- किसानों और सामान्य जनता पर करों का बोझ बढ़ा।
- धार्मिक असहिष्णुता के कारण फ्रांस को आर्थिक और सामाजिक नुकसान हुआ।

निष्कर्ष: फ्रांस में लुई चौदहवें के शासनकाल में निरंकुश राजतंत्र अपने चरम पर पहुँचा, लेकिन इसकी वित्तीय और सामाजिक समस्याओं ने आगे चलकर राजसत्ता के संकट को बढ़ाया।

4. स्पेन में निरंकुश राजतंत्र

स्पेन में निरंकुश राजतंत्र का विकास हैब्सबर्ग राजवंश के शासनकाल में हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में आरागॉन के फर्डिनेंड और कैस्टाइल की इसाबेला के विवाह से स्पेन के राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया को बल मिला।

4.1 फर्डिनेंड और इसाबेला

फर्डिनेंड द्वितीय और इसाबेला प्रथम ने स्पेन में राजकीय सत्ता मजबूत करने का प्रयास किया।

उनकी प्रमुख उपलब्धियाँ—

- कैस्टाइल और आरागॉन के राजवंशीय एकीकरण को बढ़ावा।
- 1492 में ग्रेनेडा पर विजय और रिकॉन्क्विस्टा की समाप्ति।
- कैथोलिक धर्म को राज्य की एकता का आधार बनाना।
- सामंतों और नगरों पर राजकीय नियंत्रण बढ़ाना।
- स्पेनिश समुद्री अन्वेषण और उपनिवेश विस्तार को प्रोत्साहन।

1492 में कोलंबस की समुद्री यात्रा के बाद स्पेन ने अमेरिका में विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया।

4.2 चार्ल्स पंचम (1519–1556)

चार्ल्स पंचम के शासनकाल में स्पेनिश शक्ति का व्यापक विस्तार हुआ। वह पवित्र रोमन सम्राट भी था।

उसके साम्राज्य में स्पेन, नीदरलैंड, ऑस्ट्रिया के हैब्सबर्ग क्षेत्र और अमेरिका के विशाल उपनिवेश शामिल थे।

उसके सामने प्रमुख चुनौतियाँ थीं—

- जर्मनी में प्रोटेस्टेंट धर्म-सुधार आंदोलन।
- फ्रांस के साथ यूरोपीय प्रभुत्व का संघर्ष।
- ऑटोमन साम्राज्य का विस्तार।
- विशाल साम्राज्य के प्रशासन और वित्त की समस्या।

4.3 फिलिप द्वितीय (1556–1598)

फिलिप द्वितीय के शासनकाल में स्पेन का निरंकुश राजतंत्र अत्यंत शक्तिशाली बना।

प्रमुख विशेषताएँ—

1. कैथोलिक धर्म की रक्षा को शासन का प्रमुख उद्देश्य बनाया।
2. प्रशासन को अधिक केंद्रीकृत किया।
3. स्पेनिश अमेरिका से प्राप्त चाँदी और सोने से राजकोष को मजबूत करने का प्रयास किया।
4. नीदरलैंड में विद्रोह का सामना किया।
5. इंग्लैंड के विरुद्ध 1588 में स्पेनिश आर्माडा भेजा, जिसे पराजय मिली।
6. विशाल साम्राज्य के संचालन के लिए अधिकारियों और परिषदों की व्यवस्था विकसित की।

4.4 स्पेनिश निरंकुशता का पतन

स्पेन की शक्ति धीरे-धीरे कमजोर होने लगी। इसके प्रमुख कारण थे—

- लगातार युद्धों के कारण आर्थिक संकट।
- उपनिवेशों से प्राप्त बहुमूल्य धातुओं पर अत्यधिक निर्भरता।
- कृषि और उद्योग का अपेक्षाकृत कमजोर विकास।
- प्रशासनिक भ्रष्टाचार और वित्तीय अव्यवस्था।

- नीदरलैंड के विद्रोह और यूरोपीय संघर्ष।
- उत्तराधिकार संबंधी समस्याएँ।

निष्कर्ष: स्पेन में निरंकुश राजतंत्र ने विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य और कैथोलिक धार्मिक एकता के आधार पर शक्ति प्राप्त की, लेकिन आर्थिक कमजोरियों और लगातार युद्धों के कारण उसका प्रभाव घटने लगा।

5. रूस में निरंकुश राजतंत्र

रूस में निरंकुश राजतंत्र का विकास पश्चिमी यूरोप से कुछ भिन्न परिस्थितियों में हुआ। वहाँ जार (Tsar) सर्वोच्च शासक था। उसने सामंतों, चर्च और स्थानीय शक्तियों को नियंत्रित करके केंद्रीकृत शासन स्थापित किया।

5.1 इवान चतुर्थ (इवान द टेरिबल) (1547–1584)

इवान चतुर्थ रूस का पहला शासक था जिसने औपचारिक रूप से जार की उपाधि धारण की।

उसकी प्रमुख उपलब्धियाँ—

- 1547 में जार के रूप में राज्याभिषेक।
- केंद्रीय राजसत्ता को मजबूत करना।
- कजान और अस्त्रखान पर विजय प्राप्त करना।
- रूस के पूर्वी क्षेत्रों में विस्तार।
- सामंतों अर्थात् बोयारों की शक्ति सीमित करने का प्रयास।

उसने ओप्रिचनिना नामक दमनकारी व्यवस्था लागू की, जिसके माध्यम से संभावित विरोधियों को नियंत्रित किया गया। उसके शासन में राजसत्ता मजबूत हुई, लेकिन हिंसा और दमन भी बढ़े।

5.2 रोमानोव राजवंश (1613–1917)

1613 में मिखाइल रोमानोव के जार बनने के साथ रोमानोव राजवंश की स्थापना हुई। इस राजवंश ने रूस में केंद्रीकृत राजसत्ता को मजबूत किया।

5.3 पीटर महान (1682–1725)

पीटर महान रूस के सबसे महत्त्वपूर्ण निरंकुश शासकों में से एक था। उसने रूस को आधुनिक सैन्य और प्रशासनिक शक्ति बनाने का प्रयास किया।

प्रमुख सुधार

1. सैन्य सुधार: आधुनिक सेना और शक्तिशाली नौसेना का निर्माण किया।

2. प्रशासनिक सुधार: शासन को अधिक व्यवस्थित बनाने के लिए सीनेट और विभिन्न प्रशासनिक संस्थाओं का गठन किया।

3. चर्च पर नियंत्रण: 1721 में पैट्रिआर्क पद को समाप्त कर पवित्र धर्मसभा (Holy Synod) की स्थापना की, जिससे चर्च पर राज्य का नियंत्रण बढ़ा।

4. आर्थिक सुधार: उद्योग, खनन, धातु उत्पादन और व्यापार को प्रोत्साहन दिया।

5. पश्चिमीकरण: यूरोपीय तकनीक, शिक्षा, पोशाक और प्रशासनिक पद्धतियों को अपनाने का प्रयास किया।

6. सेंट पीटर्सबर्ग की स्थापना: 1703 में सेंट पीटर्सबर्ग की स्थापना की, जो आगे चलकर रूस की राजधानी बना।

5.4 कैथरीन द्वितीय (1762–1796)

कैथरीन महान ने रूसी साम्राज्य का विस्तार किया और प्रशासनिक सुधार किए।

- शिक्षा और कला को प्रोत्साहन दिया।
- कानून और प्रशासन में सुधार के प्रयास किए।
- काला सागर क्षेत्र में रूस का प्रभाव बढ़ाया।
- पोलैंड के विभाजनों में भाग लिया।
- कुलीन वर्ग की शक्ति को मजबूत किया।

हालाँकि उसने प्रबोधन के कुछ विचारों से प्रभावित होकर सुधारों की चर्चा की, लेकिन किसानों की दासता (Serfdom) और कुलीन विशेषाधिकारों को समाप्त नहीं किया।

5.5 रूस में निरंकुशता के परिणाम

- जार की सत्ता अत्यधिक शक्तिशाली बनी।
- स्थायी सेना और नौकरशाही का विकास हुआ।
- रूस यूरोप की प्रमुख सैन्य शक्तियों में शामिल हुआ।
- सामंतों और कुलीन वर्ग का प्रभाव बना रहा।
- किसानों पर दासता और शोषण का बोझ बढ़ा।

निष्कर्ष: रूस में पीटर महान और कैथरीन द्वितीय के शासनकाल में निरंकुश राजतंत्र ने आधुनिक प्रशासन और सैन्य शक्ति को प्रोत्साहित किया, लेकिन सामाजिक असमानता और किसानों की दासता भी बनी रही।

6. ऑटोमन साम्राज्य में निरंकुश राजतंत्र

ऑटोमन साम्राज्य (Ottoman Empire) पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका में फैला एक विशाल इस्लामी साम्राज्य था। इसकी स्थापना परंपरागत रूप से उस्मान प्रथम से जुड़ी मानी जाती है। सोलहवीं शताब्दी में इसके शासकों ने विशाल केंद्रीकृत साम्राज्य का संचालन किया।

6.1 सुल्तान की सर्वोच्च सत्ता

ऑटोमन साम्राज्य में सुल्तान सर्वोच्च राजनीतिक, सैन्य और प्रशासनिक अधिकारी था। वह साम्राज्य का प्रमुख शासक और सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था।

सुल्तान की सत्ता को इस्लामी राजनीतिक परंपरा तथा राजवंशीय अधिकार से वैधता प्राप्त होती थी।

6.2 सुलेमान महान (1520–1566)

सुलेमान प्रथम को सुलेमान महान (Suleiman the Magnificent) कहा जाता है। उसके शासनकाल में ऑटोमन साम्राज्य राजनीतिक, सैन्य और सांस्कृतिक दृष्टि से अपने उत्कर्ष पर पहुँचा।

प्रमुख उपलब्धियाँ

1. यूरोप, एशिया और अफ्रीका में साम्राज्य का विस्तार।
2. 1521 में बेलग्रेड पर अधिकार।
3. 1526 में मोहाच के युद्ध में हंगरी को पराजित करना।
4. 1529 में वियना की घेराबंदी।
5. कानूनों का संकलन और प्रशासनिक व्यवस्था को मजबूत करना।
6. नौसेना और व्यापारिक गतिविधियों का विकास।
7. कला, वास्तुकला और साहित्य को प्रोत्साहन।

सुलेमान को उसकी विधिक और प्रशासनिक गतिविधियों के कारण कानूनी (कानून निर्माता) भी कहा जाता है।

6.3 प्रशासनिक व्यवस्था

ऑटोमन साम्राज्य में केंद्रीय प्रशासन अत्यंत संगठित था।

- ग्रैंड वजीर सुल्तान का प्रमुख मंत्री होता था।
- प्रांतों में गवर्नर नियुक्त किए जाते थे।
- दीवान प्रशासनिक और राजनीतिक निर्णयों का प्रमुख संस्थान था।
- सेना में जनिसरी (Janissaries) का महत्वपूर्ण स्थान था।
- टिमार व्यवस्था के अंतर्गत सैनिक सेवा के बदले भूमि से प्राप्त राजस्व के अधिकार दिए जाते थे।

6.4 धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था

ऑटोमन साम्राज्य में इस्लाम को प्रमुख धार्मिक स्थान प्राप्त था, लेकिन ईसाई और यहूदी समुदायों को भी साम्राज्य के अंतर्गत अपने धार्मिक संस्थानों और व्यक्तिगत मामलों में सीमित स्वायत्तता दी गई थी।

मिल्लत व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न धार्मिक समुदायों को अपने धार्मिक नेतृत्व और कुछ सामाजिक मामलों का प्रबंधन करने की अनुमति थी।

6.5 ऑटोमन साम्राज्य में निरंकुशता की सीमाएँ

सुल्तान की सत्ता व्यापक थी, लेकिन उसे धार्मिक कानून, प्रशासनिक परंपराओं, सैन्य संस्थाओं और शक्तिशाली दरबारी गुटों का ध्यान रखना पड़ता था।

सत्रहवीं शताब्दी के बाद जनिसरी सेना, दरबारी राजनीति और प्रांतीय शक्तियों के बढ़ते प्रभाव ने केंद्रीय सत्ता के सामने चुनौतियाँ उत्पन्न कीं।

निष्कर्ष: ऑटोमन साम्राज्य में सुल्तान के नेतृत्व में केंद्रीकृत राजतंत्र विकसित हुआ। सुलेमान महान के शासनकाल में इसकी राजनीतिक और सैन्य शक्ति चरम पर पहुँची।

7. चीन में मांचू अथवा छिंग साम्राज्य में निरंकुश राजतंत्र

चीन में मांचू अथवा छिंग (Qing) राजवंश ने 1644 से 1912 तक शासन किया। यह चीन का अंतिम शाही राजवंश था। मांचू शासकों ने चीनी प्रशासनिक परंपराओं को अपनाकर एक विशाल और केंद्रीकृत साम्राज्य का निर्माण किया।

7.1 छिंग राजवंश की स्थापना

मांचू मूल के शासकों ने उत्तर-पूर्वी चीन में अपनी शक्ति विकसित की। 1644 में मिंग राजवंश के पतन के बाद मांचू सेनाओं ने बीजिंग पर अधिकार कर लिया और छिंग राजवंश की स्थापना हुई।

प्रारम्भ में मांचू शासकों को चीनी जनता और हान अधिकारियों के बीच अपनी सत्ता को वैध बनाने की चुनौती का सामना करना पड़ा।

7.2 सम्राट की सर्वोच्च सत्ता

चीन में सम्राट को स्वर्ग का पुत्र (Son of Heaven) माना जाता था। उसे स्वर्गादेश (Mandate of Heaven) के आधार पर शासन करने का अधिकार प्राप्त था।

सम्राट—

- राज्य का सर्वोच्च राजनीतिक प्रमुख था।
- सेना और प्रशासन पर नियंत्रण रखता था।
- उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता था।

- कर व्यवस्था और न्यायिक प्रशासन का प्रमुख था।
- विदेश नीति और साम्राज्य विस्तार के निर्णय लेता था।

7.3 कांग्शी सम्राट (1661–1722)

कांग्शी सम्राट छिंग राजवंश के सबसे महत्त्वपूर्ण शासकों में से एक था।

उसकी प्रमुख उपलब्धियाँ—

1. चीन में मांचू शासन को स्थिरता प्रदान करना।
2. आंतरिक विद्रोहों को नियंत्रित करना।
3. ताइवान पर नियंत्रण स्थापित करना।
4. प्रशासन और कृषि को प्रोत्साहन देना।
5. विज्ञान, गणित और खगोलशास्त्र में रुचि दिखाना।
6. साम्राज्य के क्षेत्रीय विस्तार और सीमाओं की सुरक्षा करना।

7.4 योंगझेंग सम्राट (1722–1735)

योंगझेंग ने प्रशासनिक और वित्तीय व्यवस्था को मजबूत बनाया।

- कर व्यवस्था में सुधार किए।
- भ्रष्टाचार पर नियंत्रण के प्रयास किए।
- केंद्रीय प्रशासन को अधिक प्रभावी बनाया।
- अधिकारियों पर निगरानी बढ़ाई।
- सम्राट की राजनीतिक सत्ता को मजबूत किया।

7.5 चिएनलुंग सम्राट (1735–1796)

चिएनलुंग के शासनकाल में छिंग साम्राज्य ने क्षेत्रीय विस्तार और सांस्कृतिक विकास की ऊँचाइयाँ प्राप्त कीं।

प्रमुख उपलब्धियाँ—

1. मध्य एशिया के क्षेत्रों पर साम्राज्य का प्रभाव बढ़ाया।
2. शिनजियांग और तिब्बत पर नियंत्रण मजबूत किया।
3. कला, साहित्य और इतिहास लेखन को संरक्षण दिया।

4. विशाल ग्रंथ-संग्रह परियोजना सिकू क्वांशु (Siku Quanshu) को प्रोत्साहन दिया।
5. साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था को मजबूत बनाए रखा।

7.6 प्रशासनिक व्यवस्था

छिंग साम्राज्य में केंद्रीकृत प्रशासन का विकास हुआ।

- सम्राट सर्वोच्च सत्ता का केंद्र था।
- ग्रैंड काउंसिल प्रमुख प्रशासनिक संस्था के रूप में विकसित हुई।
- प्रांतों में गवर्नर और अन्य अधिकारी नियुक्त किए जाते थे।
- सिविल सेवा परीक्षा के माध्यम से अधिकारियों की भर्ती की जाती थी।
- मांचू और हान अधिकारियों के बीच प्रशासनिक संतुलन बनाए रखने का प्रयास किया जाता था।
- बैनर व्यवस्था (Eight Banner System) मांचू सैन्य और सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार थी।

7.7 छिंग साम्राज्य में निरंकुशता की विशेषताएँ

- सम्राट की सर्वोच्च राजनीतिक और सैन्य सत्ता।
- केंद्रीय प्रशासन का विस्तार।
- अधिकारियों की नियुक्ति और नियंत्रण सम्राट के हाथों में।
- सैन्य शक्ति के माध्यम से विशाल साम्राज्य पर नियंत्रण।
- कन्फ्यूशियस विचारधारा के माध्यम से शासन को वैधता।
- मांचू शासक वर्ग की विशेष राजनीतिक और सैन्य स्थिति।

7.8 छिंग साम्राज्य के पतन की पृष्ठभूमि

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और उन्नीसवीं शताब्दी में छिंग साम्राज्य के सामने अनेक चुनौतियाँ आईं—

- जनसंख्या में तीव्र वृद्धि और भूमि पर दबाव।
- प्रशासनिक भ्रष्टाचार।
- आंतरिक विद्रोह।
- यूरोपीय शक्तियों का बढ़ता हस्तक्षेप।
- अफीम युद्ध (1839–1842 तथा 1856–1860)।

- ताइपिंग विद्रोह (1850–1864)।
- साम्राज्य की सैन्य और आर्थिक कमजोरियाँ।

अंततः 1911 की क्रांति के बाद 1912 में छिंग राजवंश का अंत हुआ।

निष्कर्ष: छिंग साम्राज्य में सम्राट की निरंकुश सत्ता, केंद्रीकृत प्रशासन, कन्फ्यूशियस विचारधारा और मांचू सैन्य संगठन के आधार पर शासन संचालित हुआ। कांग्शी और चिएनलुंग के शासनकाल में यह साम्राज्य अपने उत्कर्ष पर पहुँचा।

8. विभिन्न देशों में निरंकुश राजतंत्र का तुलनात्मक अध्ययन

इन देशों में निरंकुश राजतंत्र का विकास अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ। इंग्लैंड में संसद ने राजसत्ता को सीमित किया, जबकि फ्रांस में राजसत्ता अत्यधिक शक्तिशाली बनी। रूस में जारों ने केंद्रीकृत सत्ता स्थापित की। स्पेन में कैथोलिक धर्म और औपनिवेशिक विस्तार ने राजतंत्र को मजबूती प्रदान की। ऑटोमन और छिंग साम्राज्यों में सुल्तान तथा सम्राट के नेतृत्व में विशाल बहु-जातीय साम्राज्य संचालित हुए।

देश/साम्राज्य	**प्रमुख शासक**	**निरंकुश राजतंत्र की प्रमुख विशेषता**
इंग्लैंड	हेनरी अष्टम, चार्ल्स प्रथम	निरंकुशता का प्रयास, अंततः संसदीय राजतंत्र
फ्रांस	लुई चौदहवाँ	निरंकुश राजतंत्र का चरम
स्पेन	फिलिप द्वितीय	कैथोलिक राजसत्ता और औपनिवेशिक विस्तार
रूस	इवान चतुर्थ, पीटर महान, कैथरीन द्वितीय	जार की सर्वोच्च सत्ता और सैन्य-प्रशासनिक केंद्रीकरण
ऑटोमन साम्राज्य	सुलेमान महान	सुल्तान की राजनीतिक, सैन्य और प्रशासनिक सर्वोच्चता
चीन का छिंग साम्राज्य	कांग्शी, योंगझेंग, चिएनलुंग	सम्राट की सर्वोच्च सत्ता और केंद्रीकृत नौकरशाही

9. निरंकुश राजतंत्र के उदय के प्रमुख कारण

सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच विभिन्न देशों में निरंकुश राजतंत्र के उदय के पीछे कुछ समान कारण थे।

1. सामंतवाद का पतन: मध्यकालीन सामंतों की स्वतंत्र शक्ति कमजोर हुई और राजा अधिक शक्तिशाली बने।

2. व्यापार और वाणिज्य का विकास: व्यापारिक वर्ग ने राजनीतिक स्थिरता और केंद्रीकृत शासन का समर्थन किया।

3. स्थायी सेना का निर्माण: राजाओं ने सामंती सेनाओं पर निर्भरता कम करके अपनी स्थायी सेनाएँ विकसित कीं।

4. नौकरशाही का विस्तार: प्रशासनिक अधिकारियों के माध्यम से राजा ने प्रांतों पर नियंत्रण बढ़ाया।

5. धार्मिक वैधता: यूरोप में दैवी अधिकार सिद्धांत तथा एशिया में स्वर्गादेश जैसी मान्यताओं ने राजसत्ता को वैधता प्रदान की।

6. राष्ट्रीय राज्यों का विकास: क्षेत्रीय एकीकरण और केंद्रीय प्रशासन ने शक्तिशाली राजतंत्रों के निर्माण में सहायता की।

7. युद्ध और विदेश नीति: यूरोपीय तथा एशियाई शक्तियों के बीच युद्धों ने सैन्य और वित्तीय संसाधनों पर राजकीय नियंत्रण को बढ़ावा दिया।

10. निरंकुश राजतंत्र के प्रभाव

सकारात्मक प्रभाव

- राजनीतिक एकीकरण और प्रशासनिक केंद्रीकरण को बढ़ावा मिला।
- स्थायी सेना और नौकरशाही विकसित हुई।
- व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला।
- कला, साहित्य, वास्तुकला और विज्ञान को राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ।
- कई देशों में राष्ट्रीय राज्य के विकास को गति मिली।

नकारात्मक प्रभाव

- राजा की शक्ति पर नियंत्रण का अभाव रहा।
- जनता पर करों का भारी बोझ पड़ा।
- किसानों और श्रमिकों का शोषण जारी रहा।
- युद्धों और राजदरबार के खर्च से वित्तीय संकट उत्पन्न हुए।
- धार्मिक असहिष्णुता और राजनीतिक दमन को प्रोत्साहन मिला।
- सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ बनी रहीं।

निष्कर्ष

सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच निरंकुश राजतंत्र का विकास विश्व इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया थी। सामंतवादी व्यवस्था के कमजोर होने, व्यापारिक वर्ग के उदय, स्थायी सेना और केंद्रीकृत प्रशासन ने राजाओं को शक्तिशाली बनाया।

फ्रांस में लुई चौदहवें के शासनकाल में निरंकुश राजतंत्र अपने चरम पर पहुँचा। स्पेन में हैब्सबर्ग शासकों ने धार्मिक एकता और औपनिवेशिक विस्तार के आधार पर राजसत्ता मजबूत की। रूस में पीटर महान और कैथरीन द्वितीय ने सैन्य तथा प्रशासनिक केंद्रीकरण को बढ़ावा दिया। ऑटोमन साम्राज्य में सुलेमान महान के नेतृत्व में सुल्तान की सत्ता

और साम्राज्य का विस्तार हुआ, जबकि चीन के छिंग साम्राज्य में कांग्शी और चिएनलुंग ने केंद्रीकृत शासन को मजबूत किया।

इसके विपरीत इंग्लैंड में राजाओं के निरंकुश शासन के प्रयासों को संसद ने चुनौती दी। 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति और 1689 के बिल ऑफ राइट्स ने संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

अंततः निरंकुश राजतंत्र ने आधुनिक प्रशासनिक और सैन्य व्यवस्थाओं के विकास में योगदान दिया, लेकिन सत्ता के केंद्रीकरण, आर्थिक असमानता और राजनीतिक दमन ने आगे चलकर संवैधानिक शासन, नागरिक अधिकारों तथा लोकतांत्रिक विचारों के विकास की पृष्ठभूमि भी तैयार की।

यूरोपीय भौगोलिक खोजें और उनका प्रभाव : अमेरिका, वेस्ट इंडीज, एशिया एवं अफ्रीका में प्रारम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना, समुद्रपारीय व्यापार, औपनिवेशिक साम्राज्यों का स्वरूप, वैश्विक प्रभाव, प्रवासन एवं दास प्रथा

प्रस्तावना

पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच यूरोप में हुए भौगोलिक अन्वेषणों (Geographical Discoveries) ने विश्व इतिहास की दिशा बदल दी। इस काल में पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैंड, फ्रांस और नीदरलैंड जैसे यूरोपीय देशों ने नए समुद्री मार्गों की खोज की और एशिया, अफ्रीका, अमेरिका तथा वेस्ट इंडीज में अपने व्यापारिक और राजनीतिक प्रभाव का विस्तार किया।

यूरोप में पुनर्जागरण, वैज्ञानिक ज्ञान, नौपरिवहन तकनीक, व्यापारिक पूँजीवाद और वाणिज्यवाद के विकास ने समुद्री यात्राओं को प्रोत्साहित किया। इन यात्राओं के परिणामस्वरूप यूरोपीय देशों ने विशाल औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना की। समुद्रपारीय व्यापार (Trans-Oceanic Trade) का विस्तार हुआ, लेकिन इसके साथ ही स्थानीय समाजों का शोषण, भूमि पर अधिकार, दास व्यापार, जबरन श्रम और बड़े पैमाने पर जनसंख्या का विस्थापन भी हुआ।

इस प्रकार यूरोपीय भौगोलिक खोजें केवल नई भौगोलिक जानकारी प्राप्त करने की प्रक्रिया नहीं थीं, बल्कि उन्होंने आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था, उपनिवेशवाद और वैश्विक असमानताओं के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1. यूरोपीय भौगोलिक खोजों के कारण

पंद्रहवीं शताब्दी से यूरोपीय देशों ने समुद्री यात्राओं और भौगोलिक खोजों में विशेष रुचि लेना शुरू किया। इसके पीछे अनेक आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और तकनीकी कारण थे।

1.1 आर्थिक कारण

यूरोपीय भौगोलिक खोजों का सबसे प्रमुख कारण पूर्वी देशों के साथ व्यापार स्थापित करना था।

- भारत, चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया के मसाले, रेशम, सूती वस्त्र और बहुमूल्य वस्तुओं की यूरोप में अत्यधिक माँग थी।
- यूरोपीय व्यापारी एशिया के साथ सीधे व्यापार करना चाहते थे।
- अरब और इतालवी व्यापारियों का मध्यस्थता पर नियंत्रण था।
- यूरोप के व्यापारी मध्यस्थों को हटाकर अधिक लाभ कमाना चाहते थे।
- सोना और चाँदी प्राप्त करने की इच्छा ने भी समुद्री खोजों को प्रोत्साहित किया।

1.2 कॉन्स्टेंटिनोपल पर तुर्कों का अधिकार (1453)

1453 में ऑटोमन तुर्कों ने कॉन्स्टेंटिनोपल पर अधिकार कर लिया। इसके बाद यूरोप और एशिया के बीच परंपरागत व्यापारिक मार्गों पर राजनीतिक और आर्थिक दबाव बढ़ा। हालांकि व्यापार पूरी तरह बंद नहीं हुआ था, लेकिन यूरोपीय देशों ने पूर्वी देशों तक पहुँचने के लिए नए समुद्री मार्गों की खोज को प्राथमिकता दी।

1.3 पुनर्जागरण का प्रभाव

पुनर्जागरण ने यूरोप में जिज्ञासा, तर्क, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और अन्वेषण की भावना को प्रोत्साहित किया।

- मानवतावादी विचारों का विकास हुआ।
- प्राचीन भूगोल और खगोलशास्त्र का अध्ययन बढ़ा।
- पृथ्वी के आकार, समुद्रों और महाद्वीपों के बारे में नई जानकारियाँ प्राप्त हुईं।
- नए क्षेत्रों की खोज के प्रति रुचि बढ़ी।

1.4 धार्मिक कारण

यूरोपीय ईसाई शासक और मिशनरी ईसाई धर्म का प्रसार करना चाहते थे। वे एशिया और अफ्रीका में नए धार्मिक अनुयायी बनाने तथा इस्लामी शक्तियों के प्रभाव को सीमित करने की आकांक्षा रखते थे।

1.5 राजनीतिक कारण

यूरोपीय राजाओं के बीच प्रतिस्पर्धा भी भौगोलिक खोजों का महत्त्वपूर्ण कारण थी। पुर्तगाल और स्पेन ने समुद्री यात्राओं में अग्रणी भूमिका निभाई। बाद में इंग्लैंड, फ्रांस और नीदरलैंड भी इस प्रतिस्पर्धा में शामिल हो गए।

1.6 वैज्ञानिक एवं तकनीकी कारण

समुद्री यात्राओं के विकास में अनेक तकनीकी आविष्कारों और ज्ञान का योगदान था।

- कम्पास (Compass) से दिशा ज्ञात करना आसान हुआ।
- एस्ट्रोलैब (Astrolabe) से अक्षांश का अनुमान लगाया जाने लगा।
- पोर्टोलन समुद्री नक्शों ने नौपरिवहन में सहायता की।
- कारवेल (Caravel) जैसे जहाजों ने लंबी समुद्री यात्राओं को संभव बनाया।
- बेहतर पाल, पतवार और जहाज निर्माण तकनीक विकसित हुई।

1.7 भौगोलिक खोजों के प्रमुख अन्वेषक

अन्वेषक	देश	प्रमुख उपलब्धि	वर्ष

बार्थोलोम्यू डियास	पुर्तगाल	उत्तमाशा अंतरीप (Cape of Good Hope) पहुँचे	1488
क्रिस्टोफर कोलंबस	स्पेन के संरक्षण में	कैरेबियन द्वीपों तक पहुँचे	1492
वास्को-दा-गामा	पुर्तगाल	समुद्री मार्ग से कालीकट पहुँचे	1498
अमेरिगो वेस्पूची	इटली	अमेरिका को अलग महाद्वीप के रूप में पहचानने में योगदान	लगभग 1501–1502
पेड्रो अल्वारेस काब्राल	पुर्तगाल	ब्राजील पहुँचे	1500
फर्डिनेंड मैगलन का अभियान	स्पेन के संरक्षण में	विश्व की पहली समुद्री परिक्रमा पूरी की गई	1519–1522

विशेष तथ्य: मैगलन की यात्रा का नेतृत्व 1519 में फर्डिनेंड मैगलन ने किया था, लेकिन 1521 में उनकी मृत्यु के बाद जुआन सेबेस्टियन एल्कानो ने अभियान पूरा किया।

2. अमेरिका और वेस्ट इंडीज में प्रारम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना

यूरोपीय भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप अमेरिका और वेस्ट इंडीज यूरोपीय उपनिवेशवाद के प्रमुख केंद्र बन गए। स्पेन और पुर्तगाल ने प्रारम्भ में यहाँ अपने साम्राज्यों का विस्तार किया। बाद में इंग्लैंड, फ्रांस और नीदरलैंड भी इस क्षेत्र में शामिल हुए।

2.1 कोलंबस की खोज (1492)

क्रिस्टोफर कोलंबस ने 3 अगस्त 1492 को स्पेन के संरक्षण में समुद्री यात्रा प्रारम्भ की। उसका उद्देश्य पश्चिमी मार्ग से एशिया पहुँचना था।

12 अक्टूबर 1492 को वह बहामास के एक द्वीप पर पहुँचा। इसके बाद उसने क्यूबा और हिस्पानियोला जैसे द्वीपों का भ्रमण किया। कोलंबस को विश्वास था कि वह एशिया के निकटवर्ती द्वीपों तक पहुँचा है, लेकिन उसकी यात्राओं ने यूरोपीय विस्तार के लिए अमेरिका के द्वार खोल दिए।

2.2 स्पेनिश औपनिवेशिक साम्राज्य

स्पेन ने अमेरिका में सबसे पहले विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया।

प्रमुख विजेता (Conquistadors)

1. हर्नान कोर्टेस (Hernán Cortés):

- 1519 में मैक्सिको पहुँचा।

- एज्टेक साम्राज्य पर आक्रमण किया।
- 1521 में टेनोच्टिटलान पर अधिकार कर लिया।
- एज्टेक साम्राज्य के पतन के बाद स्पेनिश शासन स्थापित हुआ।

2. फ्रांसिस्को पिजारो (Francisco Pizarro):

- दक्षिण अमेरिका में इंका साम्राज्य पर आक्रमण किया।
- 1532 में इंका शासक अताहुआल्पा को बंदी बनाया।
- 1533 में कुज्को पर स्पेनिश अधिकार स्थापित हुआ।

स्पेन ने मेक्सिको, पेरू, मध्य अमेरिका और दक्षिण अमेरिका के विशाल क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित किया।

2.3 पुर्तगाली औपनिवेशिक साम्राज्य

पुर्तगाल ने ब्राजील में अपना उपनिवेश स्थापित किया।

1500 में पेड्रो अल्वारेस काब्राल ब्राजील पहुँचा। 1530 के दशक से पुर्तगाल ने वहाँ स्थायी औपनिवेशिक बस्तियाँ स्थापित करनी शुरू कीं।

ब्राजील में—

- गन्ने की खेती का विस्तार हुआ।
- चीनी उत्पादन प्रमुख उद्योग बना।
- अफ्रीकी दास श्रमिकों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया गया।
- पुर्तगाली भाषा और कैथोलिक धर्म का प्रसार हुआ।

2.4 वेस्ट इंडीज में औपनिवेशिक साम्राज्य

वेस्ट इंडीज अथवा कैरेबियन द्वीपसमूह यूरोपीय देशों के लिए आर्थिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण था।

प्रमुख औपनिवेशिक शक्तियाँ थीं—

- स्पेन : क्यूबा, हिस्पानियोला और प्यूर्टो रिको के प्रमुख क्षेत्रों पर प्रभाव।
- इंग्लैंड : जमैका, बारबाडोस और अन्य द्वीपों में उपनिवेश।
- फ्रांस : मार्टीनिक और ग्वाडेलूप।
- नीदरलैंड : कुरासाओ तथा अन्य कैरेबियन क्षेत्रों में उपस्थिति।

2.5 कैरेबियन में चीनी की खेती और बागान व्यवस्था

कैरेबियन क्षेत्र में गन्ने की खेती और चीनी उत्पादन ने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को नया स्वरूप दिया।

- विशाल बागानों (Plantations) की स्थापना हुई।
- गन्ने और तंबाकू का उत्पादन बढ़ा।
- अफ्रीका से बड़ी संख्या में गुलाम लोगों को लाया गया।
- बागानों में जबरन श्रम कराया गया।
- यूरोप को चीनी, तंबाकू और अन्य उत्पादों का निर्यात किया गया।

इस व्यवस्था ने अटलांटिक दास व्यापार को व्यापक रूप दिया।

3. एशिया में प्रारम्भिक औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना

एशिया में यूरोपीय देशों की रुचि मुख्यतः व्यापारिक लाभ, मसालों, रेशम, सूती वस्त्रों और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को प्राप्त करने में थी। अमेरिका के विपरीत, एशिया में यूरोपीय शक्तियों को पहले से स्थापित शक्तिशाली साम्राज्यों और व्यापारिक नेटवर्कों का सामना करना पड़ा। इसलिए प्रारम्भिक चरण में उन्होंने व्यापारिक केंद्र और बंदरगाह स्थापित किए।

3.1 पुर्तगालियों का एशिया में विस्तार

पुर्तगाली भारत पहुँचने वाले प्रथम यूरोपीय समुद्री व्यापारी थे।

- 1498 में वास्को-दा-गामा कालीकट पहुँचा।
- 1505 में फ्रांसिस्को डी अल्मेडा भारत में पुर्तगाली राज्य का प्रथम वायसराय बना।
- 1510 में अल्फांसो डी अल्बुकर्क ने गोवा पर अधिकार किया।
- 1511 में मलक्का पर पुर्तगाली अधिकार स्थापित हुआ।
- 1557 में मकाऊ में पुर्तगालियों को स्थायी व्यापारिक उपस्थिति मिली।

पुर्तगालियों ने हिंद महासागर में समुद्री व्यापार पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए किलों और व्यापारिक चौकियों का नेटवर्क विकसित किया।

3.2 डचों का एशिया में विस्तार

नीदरलैंड ने 1602 में डच ईस्ट इंडिया कंपनी (VOC) की स्थापना की।

इस कंपनी के प्रमुख उद्देश्य थे—

- मसालों के व्यापार पर नियंत्रण।
- इंडोनेशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया में व्यापारिक प्रभुत्व।

- पुर्तगाली व्यापारिक नेटवर्क को चुनौती देना।
- समुद्री व्यापार से भारी लाभ कमाना।

1619 में डचों ने जकार्ता पर अधिकार करके वहाँ बाटाविया नामक व्यापारिक केंद्र विकसित किया। इंडोनेशिया में उन्होंने मसाला व्यापार पर अपना प्रभाव स्थापित किया।

3.3 अंग्रेजों का एशिया में विस्तार

1600 में इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम ने अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी को चार्टर प्रदान किया।

कंपनी ने भारत में व्यापारिक केंद्र स्थापित किए—

- 1612–13 के आसपास सूरत में अंग्रेजों की व्यापारिक उपस्थिति मजबूत हुई।
- 1639 में मद्रास में फोर्ट सेंट जॉर्ज की स्थापना की प्रक्रिया शुरू हुई।
- 1661 में बंबई इंग्लैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय को दहेज के रूप में मिला।
- 1690 के दशक में कलकत्ता में अंग्रेजी व्यापारिक बस्ती विकसित हुई।

शुरुआत में अंग्रेज व्यापारिक गतिविधियों तक सीमित थे, लेकिन बाद में उन्होंने राजनीतिक और सैन्य हस्तक्षेप के माध्यम से भारत में अपना औपनिवेशिक शासन स्थापित किया।

3.4 फ्रांसीसियों का एशिया में विस्तार

1664 में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई।

भारत में फ्रांसीसियों ने—

- सूरत में व्यापारिक उपस्थिति बनाई।
- 1674 में पांडिचेरी को अपना प्रमुख केंद्र बनाया।
- चंद्रनगर, माहे, कराईकल और यानम में व्यापारिक केंद्र स्थापित किए।

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच भारत में व्यापारिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व के लिए संघर्ष हुआ।

3.5 एशिया में औपनिवेशिक विस्तार की विशेषताएँ

1. प्रारम्भ में व्यापारिक चौकियों की स्थापना।
2. मसालों, रेशम और सूती वस्त्रों का व्यापार।
3. स्थानीय शासकों से व्यापारिक समझौते।
4. बंदरगाहों और किलों का निर्माण।

5. व्यापारिक कंपनियों द्वारा सैन्य शक्ति का प्रयोग।
6. धीरे-धीरे राजनीतिक हस्तक्षेप और क्षेत्रीय विस्तार।

महत्त्वपूर्ण अंतर: अमेरिका में यूरोपीय शक्तियों ने बड़े क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष राजनीतिक अधिकार स्थापित किए, जबकि एशिया में प्रारम्भिक औपनिवेशिक विस्तार मुख्यतः व्यापारिक चौकियों और समुद्री नेटवर्कों के माध्यम से हुआ। बाद के काल में भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन का विस्तार हुआ।

4. अफ्रीका में प्रारम्भिक औपनिवेशिक विस्तार

अफ्रीका में यूरोपीय विस्तार का प्रारम्भ पंद्रहवीं शताब्दी में पुर्तगाली समुद्री यात्राओं से हुआ। प्रारम्भ में यूरोपीय देशों ने अफ्रीका के तटीय क्षेत्रों में व्यापारिक चौकियाँ और किले स्थापित किए।

4.1 पुर्तगालियों का अफ्रीका में प्रवेश

पुर्तगालियों ने पश्चिमी अफ्रीका के तटों पर व्यापारिक गतिविधियाँ शुरू कीं।

- 1482 में एल्मिना किले (वर्तमान घाना) की स्थापना की गई।
- पश्चिमी अफ्रीका से सोना, हाथीदाँत और अन्य वस्तुओं का व्यापार किया गया।
- बाद में दास व्यापार भी इस व्यापार का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बना।
- पूर्वी अफ्रीका के तट पर मोजाम्बिक सहित अनेक स्थानों पर पुर्तगाली प्रभाव स्थापित हुआ।

4.2 अन्य यूरोपीय शक्तियाँ

बाद में डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी भी अफ्रीकी तटों पर पहुँचे। उन्होंने व्यापारिक चौकियाँ और किले स्थापित किए।

इनका मुख्य उद्देश्य था—

- सोने और हाथीदाँत का व्यापार।
- दास व्यापार में भागीदारी।
- एशिया जाने वाले समुद्री मार्गों पर नियंत्रण।
- अफ्रीका के तटीय व्यापार में लाभ प्राप्त करना।

4.3 अफ्रीका पर प्रारम्भिक औपनिवेशिक प्रभाव

यूरोपीय व्यापारिक गतिविधियों ने अफ्रीका के कई तटीय समाजों की अर्थव्यवस्था और राजनीति को प्रभावित किया। कुछ स्थानीय शासकों ने यूरोपीय व्यापारियों के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित किए, जबकि अन्य क्षेत्रों में संघर्ष और राजनीतिक अस्थिरता बढ़ी।

विशेष रूप से अटलांटिक दास व्यापार ने अफ्रीकी समाजों की जनसंख्या, सामाजिक संरचना और आर्थिक जीवन को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

ध्यान देना आवश्यक है कि अफ्रीका का व्यापक क्षेत्रीय उपनिवेशीकरण मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, जिसे सामान्यतः 'अफ्रीका के लिए होड़' (Scramble for Africa) कहा जाता है।

5. समुद्रपारीय व्यापार (Trans-Oceanic Trade) के कारण

समुद्रपारीय व्यापार का अर्थ है विभिन्न महाद्वीपों के बीच महासागरों के माध्यम से होने वाला व्यापार। यूरोपीय भौगोलिक खोजों के बाद अटलांटिक, हिंद महासागर और प्रशांत महासागर में व्यापारिक गतिविधियों का विस्तार हुआ।

5.1 मसालों की माँग

यूरोप में काली मिर्च, लौंग, दालचीनी, जायफल और इलायची की अत्यधिक माँग थी। इन वस्तुओं के व्यापार से भारी लाभ प्राप्त होता था।

5.2 बहुमूल्य धातुओं की खोज

अमेरिका में सोने और चाँदी की खानों की खोज ने यूरोपीय औपनिवेशिक विस्तार को प्रोत्साहित किया। विशेष रूप से मेक्सिको और पेरू की चाँदी ने वैश्विक व्यापार को प्रभावित किया।

5.3 व्यापारिक पूँजीवाद का विकास

समुद्रपारीय व्यापार ने व्यापारिक पूँजीवाद (Commercial Capitalism) के विकास को गति दी। व्यापारी, बैंक और संयुक्त पूँजी कंपनियाँ आर्थिक गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगीं।

5.4 वाणिज्यवाद (Mercantilism)

यूरोपीय देशों में वाणिज्यवाद की नीति प्रचलित हुई। इस नीति के अनुसार राज्य की आर्थिक शक्ति को सोने-चाँदी के संचय, निर्यात बढ़ाने और आयात नियंत्रित करने से जोड़ा जाता था।

इसके अंतर्गत—

- उपनिवेशों से कच्चा माल प्राप्त किया जाता था।
- यूरोप में तैयार वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था।
- उपनिवेशों को यूरोपीय वस्तुओं के बाजार के रूप में इस्तेमाल किया जाता था।
- व्यापार पर राष्ट्रीय एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास होता था।

5.5 समुद्री व्यापारिक कंपनियाँ

समुद्रपारीय व्यापार के विस्तार में संयुक्त पूँजी कंपनियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

कंपनी	स्थापना वर्ष	देश
अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी	1600	इंग्लैंड
डच ईस्ट इंडिया कंपनी (VOC)	1602	नीदरलैंड
फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी	1664	फ्रांस
रॉयल अफ्रीकन कंपनी	1672	इंग्लैंड

इन कंपनियों को व्यापारिक एकाधिकार के साथ कई बार किले बनाने, सेना रखने और संधियाँ करने जैसे अधिकार भी दिए गए।

6. औपनिवेशिक साम्राज्यों का स्वरूप (Nature of Colonial Empires)

औपनिवेशिक साम्राज्य ऐसी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था थी जिसमें एक शक्तिशाली देश किसी दूसरे क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित करके वहाँ के संसाधनों, श्रम और बाजार का अपने हित में उपयोग करता था।

6.1 राजनीतिक नियंत्रण

यूरोपीय शक्तियों ने अनेक क्षेत्रों में प्रत्यक्ष प्रशासन स्थापित किया। स्थानीय शासकों को हटाया गया या उन्हें यूरोपीय सत्ता के अधीन कर दिया गया।

6.2 आर्थिक शोषण

उपनिवेशों का आर्थिक विकास मुख्यतः यूरोपीय देशों के हितों के अनुसार किया गया।

- खनिज संसाधनों का दोहन।
- कृषि उत्पादन को निर्यातोन्मुख बनाना।
- स्थानीय उद्योगों पर दबाव।
- व्यापारिक एकाधिकार।
- श्रम का शोषण।

6.3 व्यापारिक एकाधिकार

यूरोपीय कंपनियों ने उपनिवेशों में व्यापार पर नियंत्रण स्थापित किया। उपनिवेशों को प्रायः निर्धारित यूरोपीय बाजारों से व्यापार करने के लिए बाध्य किया गया।

6.4 धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभाव

मिशनरियों के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रसार किया गया। यूरोपीय भाषाओं, शिक्षा, कानून और सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रभाव बढ़ा। कई स्थानों पर स्थानीय परंपराओं और धार्मिक संस्थाओं को नुकसान पहुँचा, जबकि कुछ क्षेत्रों में सांस्कृतिक समन्वय भी विकसित हुआ।

6.5 सैन्य नियंत्रण

यूरोपीय शक्तियों ने उपनिवेशों में किले, बंदरगाह और सैन्य चौकियाँ स्थापित कीं। स्थानीय विद्रोहों और प्रतिस्पर्धी यूरोपीय शक्तियों का सामना करने के लिए सैन्य बल का उपयोग किया गया।

6.6 नस्लीय और सामाजिक असमानता

औपनिवेशिक व्यवस्था में यूरोपीय शासकों और स्थानीय जनता के बीच असमानता थी। कई उपनिवेशों में नस्लीय भेदभाव, जबरन श्रम और राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखने की व्यवस्था विकसित हुई।

7. वैश्विक प्रभाव (Global Impact of Colonial Empires)

यूरोपीय भौगोलिक खोजों और औपनिवेशिक साम्राज्यों ने विश्व के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को गहराई से प्रभावित किया।

7.1 वैश्विक व्यापारिक नेटवर्क का विकास

अटलांटिक, हिंद महासागर और प्रशांत महासागर के बीच व्यापारिक संपर्क बढ़े। यूरोप, एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के बाजार एक-दूसरे से जुड़ने लगे।

7.2 कोलंबियन एक्सचेंज (Columbian Exchange)

अमेरिका और यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के बीच पौधों, पशुओं, खाद्य पदार्थों, रोगों और जनसंख्या का व्यापक आदान-प्रदान हुआ। इतिहासकार अल्फ्रेड क्रॉस्बी ने इस प्रक्रिया को Columbian Exchange नाम दिया।

अमेरिका से पुरानी दुनिया में	पुरानी दुनिया से अमेरिका में
आलू	गेहूँ
मक्का	गन्ना
टमाटर	कॉफी
मिर्च	घोड़ा
तंबाकू	गाय और भेड़
कोको	चेचक और खसरा जैसे रोग
मूँगफली	चावल

प्रभाव: आलू और मक्का जैसी फसलों ने यूरोप, अफ्रीका और एशिया के खाद्य जीवन को बदल दिया। दूसरी ओर, चेचक जैसी बीमारियों ने अमेरिका के मूल निवासियों की जनसंख्या को भारी नुकसान पहुँचाया।

7.3 यूरोप में पूँजीवाद का विकास

औपनिवेशिक व्यापार से यूरोपीय व्यापारियों और कंपनियों को विशाल लाभ हुआ। बैंकिंग, बीमा, समुद्री परिवहन और संयुक्त पूँजी कंपनियों का विस्तार हुआ। इससे व्यापारिक पूँजीवाद और आगे चलकर औद्योगिक पूँजीवाद के विकास को बल मिला।

7.4 अमेरिका में सामाजिक परिवर्तन

यूरोपीय उपनिवेशवाद ने अमेरिका के मूल निवासी समाजों को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

- एज्टेक और इंका जैसे साम्राज्यों का पतन हुआ।
- मूल निवासियों की भूमि पर यूरोपीय अधिकार स्थापित हुआ।
- स्थानीय जनसंख्या में बीमारियों, युद्ध और जबरन श्रम के कारण भारी गिरावट आई।
- यूरोपीय और अफ्रीकी आबादी के आगमन से नई सामाजिक संरचना विकसित हुई।

7.5 एशिया और अफ्रीका पर प्रभाव

एशिया में यूरोपीय कंपनियों ने व्यापारिक नेटवर्क और राजनीतिक प्रभाव का विस्तार किया। अफ्रीका में अटलांटिक दास व्यापार के कारण अनेक क्षेत्रों की सामाजिक और आर्थिक संरचना प्रभावित हुई।

7.6 विश्व अर्थव्यवस्था का निर्माण

यूरोपीय औपनिवेशिक विस्तार के परिणामस्वरूप विभिन्न महाद्वीपों की अर्थव्यवस्थाएँ एक-दूसरे से अधिक जुड़ने लगीं। कच्चे माल का उत्पादन, समुद्री परिवहन, वित्तीय पूँजी और तैयार माल के बाजारों के बीच वैश्विक संबंध विकसित हुए।

8. प्रवासन (Migration) और औपनिवेशिक विस्तार

यूरोपीय भौगोलिक खोजों के बाद विश्व में बड़े पैमाने पर जनसंख्या का प्रवासन हुआ। इसमें स्वैच्छिक और जबरन दोनों प्रकार के प्रवासन शामिल थे।

8.1 यूरोपीय प्रवासन

यूरोप से बड़ी संख्या में लोग अमेरिका और कैरेबियन क्षेत्रों में जाकर बसने लगे।

इसके कारण थे—

- भूमि और कृषि के अवसर।

- व्यापार और रोजगार।
- धार्मिक स्वतंत्रता की तलाश।
- आर्थिक समृद्धि की इच्छा।
- यूरोपीय राज्यों की औपनिवेशिक नीतियाँ।

अंग्रेज, स्पेनिश, पुर्तगाली, फ्रांसीसी और डच लोग अमेरिका में बसने लगे। इससे वहाँ यूरोपीय भाषाओं, धर्मों और सामाजिक संस्थाओं का विस्तार हुआ।

8.2 अफ्रीकी लोगों का जबरन प्रवासन

अटलांटिक दास व्यापार के अंतर्गत लाखों अफ्रीकी लोगों को जबरन पकड़कर अमेरिका और कैरेबियन के बागानों तथा खानों में काम करने के लिए ले जाया गया।

इस प्रवासन की विशेषताएँ थीं—

- लोगों का अपहरण और बंदी बनाना।
- दास जहाजों में अमानवीय परिस्थितियों में यात्रा।
- परिवारों और समुदायों का विखंडन।
- बागानों और खानों में जबरन श्रम।
- शारीरिक हिंसा और सामाजिक अपमान।

8.3 मूल निवासियों का विस्थापन

अमेरिका में यूरोपीय उपनिवेशवाद के कारण मूल निवासी समुदायों को अपनी भूमि छोड़नी पड़ी। कई स्थानों पर उन्हें जबरन श्रम, हिंसा और सांस्कृतिक दमन का सामना करना पड़ा।

8.4 मिश्रित समाजों का विकास

यूरोपीय, अफ्रीकी और मूल अमेरिकी आबादी के संपर्क से लैटिन अमेरिका और कैरेबियन में मिश्रित समाज विकसित हुए।

इन समाजों में भाषा, धर्म, भोजन, संगीत, कला और सामाजिक जीवन के नए रूप सामने आए। साथ ही नस्लीय श्रेणीकरण और सामाजिक असमानताएँ भी बनीं।

9. गुलामी और अटलांटिक दास व्यापार (Slavery and Atlantic Slave Trade)

यूरोपीय औपनिवेशिक विस्तार का सबसे क्रूर पक्ष अटलांटिक दास व्यापार था। अमेरिका और कैरेबियन में गन्ने, तंबाकू, कॉफी और कपास के बागानों तथा खानों में श्रमिकों की भारी माँग थी। यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए अफ्रीका से लोगों को पकड़कर दास के रूप में अमेरिका पहुँचाया।

9.1 दास प्रथा के विकास के कारण

1. बागान कृषि का विस्तार: अमेरिका और कैरेबियन में गन्ने, तंबाकू और बाद में कॉफी तथा कपास की खेती का विस्तार हुआ।

2. श्रम की आवश्यकता: बागानों और खानों में बड़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता थी।

3. मूल निवासी आबादी में गिरावट: युद्ध, बीमारी और जबरन श्रम के कारण अमेरिका के अनेक मूल निवासी समुदायों की जनसंख्या में भारी गिरावट आई। इससे उपनिवेशवादियों ने अफ्रीकी दास श्रम का विस्तार किया।

4. आर्थिक लाभ: दास व्यापार और बागान अर्थव्यवस्था से यूरोपीय व्यापारियों, जहाज मालिकों और निवेशकों को भारी लाभ प्राप्त हुआ।

5. नस्लीय विचारधारा: अफ्रीकी लोगों को हीन मानने वाली नस्लवादी विचारधाराओं का निर्माण और प्रचार किया गया, जिनका उपयोग दासता को उचित ठहराने के लिए हुआ।

9.2 त्रिकोणीय व्यापार (Triangular Trade)

अटलांटिक दास व्यापार को सामान्यतः त्रिकोणीय व्यापार कहा जाता है। इसमें यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका के बीच वस्तुओं तथा मानव श्रम का आदान-प्रदान होता था।

प्रथम चरण : यूरोप से अफ्रीका

यूरोपीय व्यापारी अफ्रीका में कपड़े, हथियार, धातु की वस्तुएँ और अन्य सामान ले जाते थे। इन वस्तुओं का उपयोग कई स्थानों पर दास बनाए गए लोगों को प्राप्त करने के लिए किया जाता था।

द्वितीय चरण : अफ्रीका से अमेरिका

अफ्रीकी लोगों को जबरन जहाजों में भरकर अटलांटिक महासागर पार कराया जाता था। इस यात्रा को Middle Passage कहा जाता है। इसमें भूख, बीमारी, हिंसा और अमानवीय परिस्थितियों के कारण अनेक लोगों की मृत्यु हो जाती थी।

तृतीय चरण : अमेरिका से यूरोप

अमेरिका से चीनी, तंबाकू, कॉफी, कपास और अन्य औपनिवेशिक वस्तुएँ यूरोप भेजी जाती थीं।

यह व्यापारिक व्यवस्था यूरोपीय औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और अटलांटिक दास व्यापार का प्रमुख आधार बनी।

9.3 दासों की जीवन परिस्थितियाँ

दास बनाए गए लोगों को अत्यंत अमानवीय परिस्थितियों में रहना पड़ता था।

- उन्हें स्वतंत्रता से वंचित रखा जाता था।
- बागानों में लंबे समय तक काम कराया जाता था।
- शारीरिक दंड और हिंसा सामान्य थी।
- परिवारों को अलग कर दिया जाता था।
- शिक्षा और संपत्ति के अधिकार सीमित या समाप्त थे।
- दासों को खरीदा और बेचा जाता था।

9.4 दास प्रथा का विरोध

दास प्रथा के विरुद्ध अनेक प्रकार के प्रतिरोध हुए।

- दास बनाए गए लोगों ने विद्रोह किए।
- कई लोगों ने भागकर स्वतंत्र समुदाय स्थापित किए, जिन्हें मैरून समुदाय कहा जाता है।
- धार्मिक और मानवतावादी समूहों ने दास प्रथा का विरोध किया।
- अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में उन्मूलनवादी आंदोलन (Abolitionist Movement) विकसित हुआ।

9.5 दास प्रथा का उन्मूलन

दास व्यापार और दास प्रथा का उन्मूलन धीरे-धीरे हुआ।

वर्ष	**प्रमुख घटना**
1807	ब्रिटेन ने दास व्यापार को अवैध घोषित किया
1808	अमेरिका में दासों के आयात पर प्रतिबंध प्रभावी हुआ
1833	ब्रिटिश साम्राज्य में दास प्रथा उन्मूलन अधिनियम पारित
1848	फ्रांस के उपनिवेशों में दास प्रथा का उन्मूलन
1865	अमेरिका में 13वें संशोधन द्वारा दास प्रथा समाप्त
1888	ब्राजील में दास प्रथा समाप्त

महत्वपूर्ण अंतर: दास व्यापार का प्रतिबंध और दास प्रथा का उन्मूलन दो अलग प्रक्रियाएँ थीं। किसी देश में दासों के व्यापार पर प्रतिबंध लग जाने का अर्थ यह नहीं था कि वहाँ पहले से दास बनाए गए सभी लोगों को तत्काल स्वतंत्रता मिल गई थी।

10. यूरोपीय औपनिवेशिक विस्तार के सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव

औपनिवेशिक विस्तार के परिणामों का अध्ययन करते समय यह समझना आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों पर इसका प्रभाव अलग-अलग था।

सकारात्मक अथवा परिवर्तनकारी पक्ष

- महाद्वीपों के बीच व्यापारिक संपर्क बढ़े।
- नए खाद्य पदार्थों और फसलों का प्रसार हुआ।
- समुद्री परिवहन और नौपरिवहन तकनीक विकसित हुई।
- वैश्विक बाजारों का विस्तार हुआ।
- भौगोलिक और वैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि हुई।
- विभिन्न क्षेत्रों के बीच सांस्कृतिक संपर्क बढ़े।

नकारात्मक पक्ष

- अमेरिका के मूल निवासियों का विनाश और विस्थापन।
- अफ्रीकी दास व्यापार का विस्तार।
- उपनिवेशों के संसाधनों का शोषण।
- स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं का औपनिवेशिक हितों के अधीन होना।
- नस्लीय भेदभाव और सामाजिक असमानता।
- जबरन धर्म परिवर्तन और सांस्कृतिक हस्तक्षेप।
- युद्ध, हिंसा और राजनीतिक अस्थिरता।

11. निष्कर्ष

पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच यूरोपीय भौगोलिक खोजों ने विश्व इतिहास में एक नए युग की शुरुआत की। पुर्तगाल और स्पेन ने प्रारम्भिक समुद्री खोजों के माध्यम से अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में अपने व्यापारिक तथा औपनिवेशिक साम्राज्यों का विस्तार किया। बाद में इंग्लैंड, फ्रांस और नीदरलैंड भी इस प्रतिस्पर्धा में शामिल हो गए।

अमेरिका और वेस्ट इंडीज में यूरोपीय शक्तियों ने विशाल भू-भागों पर राजनीतिक अधिकार स्थापित किए तथा बागान आधारित अर्थव्यवस्था विकसित की। एशिया में प्रारम्भ में व्यापारिक चौकियों और समुद्री नेटवर्कों का विस्तार हुआ, जबकि अफ्रीका में तटीय व्यापार और अटलांटिक दास व्यापार ने सामाजिक संरचना को प्रभावित किया।

समुद्रपारीय व्यापार ने यूरोपीय पूँजीवाद, वाणिज्यवाद और वैश्विक अर्थव्यवस्था के विकास को गति दी। कोलंबियन एक्सचेंज के माध्यम से विश्व के विभिन्न महाद्वीपों के बीच खाद्य पदार्थों, फसलों, पशुओं और बीमारियों का आदान-प्रदान हुआ। लेकिन इस प्रक्रिया का दूसरा पक्ष अत्यंत विनाशकारी था। मूल निवासियों का विस्थापन, अफ्रीकी लोगों की गुलामी, नस्लीय भेदभाव और औपनिवेशिक शोषण ने विश्व समाज में गहरी असमानताएँ पैदा कीं।

अतः यूरोपीय भौगोलिक खोजों को केवल खोज और व्यापार की उपलब्धि के रूप में नहीं, बल्कि वैश्विक संपर्क, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, प्रवासन और आधुनिक विश्व व्यवस्था के निर्माण की जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए।

भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था में गिरावट और अटलांटिक तट का उदय

प्रस्तावना

पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी यूरोप के आर्थिक इतिहास में परिवर्तन का महत्वपूर्ण काल था। मध्यकाल में भूमध्यसागर यूरोप के व्यापार, वाणिज्य और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्रमुख केंद्र था। इटली के वेनिस, जेनोआ, फ्लोरेंस तथा अन्य नगरों का व्यापारिक गतिविधियों पर विशेष प्रभाव था। एशिया से आने वाले मसाले, रेशम, सुगंधित पदार्थ, कीमती पत्थर और अन्य विलासिता की वस्तुएँ भूमध्यसागरीय मार्गों से यूरोप पहुँचती थीं।

लेकिन पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से यूरोपीय समुद्री खोजों, नए व्यापारिक मार्गों और अमेरिका की खोज के परिणामस्वरूप यूरोप की आर्थिक गतिविधियों का केंद्र धीरे-धीरे भूमध्यसागर से हटकर अटलांटिक महासागर के तटवर्ती क्षेत्रों—पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैंड, इंग्लैंड और फ्रांस—की ओर स्थानांतरित होने लगा। इस परिवर्तन को इतिहास में भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था का पतन और अटलांटिक अर्थव्यवस्था का उदय कहा जाता है।

यह परिवर्तन केवल व्यापारिक मार्गों का बदलाव नहीं था, बल्कि इसने यूरोप में पूँजीवाद, औपनिवेशिक साम्राज्यवाद, समुद्रपारीय व्यापार और आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था के विकास की नींव रखी।

1. मध्यकालीन भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप

मध्यकाल में भूमध्यसागर यूरोप, एशिया और अफ्रीका को जोड़ने वाला प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र था। इसके माध्यम से यूरोप का संपर्क पूर्वी भूमध्यसागर, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा भारतीय महासागर के व्यापारिक नेटवर्क से बना हुआ था।

प्रमुख व्यापारिक केंद्र

1. वेनिस: पूर्वी भूमध्यसागर तथा एशिया से आने वाली वस्तुओं के व्यापार का प्रमुख केंद्र।
2. जेनोआ: समुद्री व्यापार, जहाज निर्माण और वित्तीय गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध।
3. फ्लोरेंस: बैंकिंग, वस्त्र उद्योग और व्यापारिक पूँजी का महत्वपूर्ण केंद्र।
4. पीसा: पश्चिमी भूमध्यसागर के समुद्री व्यापार में सक्रिय।

5. बार्सिलोना: स्पेन और भूमध्यसागरीय क्षेत्रों के बीच व्यापार का प्रमुख नगर।

प्रमुख व्यापारिक वस्तुएँ

- भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया से मसाले, काली मिर्च, दालचीनी और लौंग।
- चीन से रेशम तथा अन्य विलासिता की वस्तुएँ।
- अरब क्षेत्रों से सुगंधित पदार्थ और औषधियाँ।
- अफ्रीका से सोना, हाथीदाँत तथा अन्य वस्तुएँ।
- यूरोप से ऊनी वस्त्र, धातुएँ और निर्मित सामान।

इस व्यापार में अरब, फारसी, भारतीय, यहूदी, इतालवी और अन्य भूमध्यसागरीय व्यापारी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

2. भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था में गिरावट के कारण

भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था का पतन अचानक नहीं हुआ। इसके पीछे राजनीतिक, आर्थिक, भौगोलिक और तकनीकी कारणों का संयुक्त प्रभाव था।

(क) कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों का अधिकार (1453)

1453 ई. में उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया। इसके बाद पूर्वी भूमध्यसागर के राजनीतिक और व्यापारिक परिवेश में परिवर्तन आया। यूरोपीय व्यापारियों को कुछ क्षेत्रों में नए राजनीतिक नियंत्रण, करों और व्यापारिक परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढालना पड़ा।

हालाँकि यह कहना सही नहीं होगा कि एशिया के साथ यूरोप का व्यापार पूरी तरह बंद हो गया था, लेकिन इस घटना ने यूरोपीय शक्तियों को एशिया तक पहुँचने के वैकल्पिक समुद्री मार्गों की खोज के लिए प्रेरित किया।

(ख) नए समुद्री मार्गों की खोज

पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में पुर्तगाली और स्पेनी नाविकों ने समुद्री यात्राओं के माध्यम से नए व्यापारिक मार्ग खोजे।

- 1488 ई. में बार्थोलोम्यू डियास ने अफ्रीका के दक्षिणी छोर अर्थात् उत्तमाशा अंतरीप (Cape of Good Hope) तक पहुँचने का मार्ग खोजा।
- 1492 ई. में क्रिस्टोफर कोलंबस अटलांटिक महासागर पार करके अमेरिका पहुँचा।
- 1498 ई. में वास्को-दा-गामा समुद्री मार्ग से भारत के कालीकट पहुँचा।

इन खोजों के परिणामस्वरूप एशिया और यूरोप के बीच व्यापार के लिए अटलांटिक तथा हिंद महासागर के मार्गों का महत्त्व बढ़ गया। इससे भूमध्यसागरीय व्यापारियों की मध्यस्थ भूमिका धीरे-धीरे कम होने लगी।

(ग) पुर्तगाल और स्पेन की समुद्री शक्ति का विकास

पुर्तगाल और स्पेन ने समुद्री यात्राओं, जहाज निर्माण तथा नौसैनिक शक्ति के विकास पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने नए व्यापारिक मार्गों और विदेशी क्षेत्रों पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया।

पुर्तगाल ने अफ्रीका के पश्चिमी तट पर व्यापारिक केंद्र स्थापित किए तथा भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ समुद्री व्यापार को विकसित किया। स्पेन ने अमेरिका में विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया।

इस प्रकार यूरोपीय व्यापार का केंद्र धीरे-धीरे अटलांटिक तट की ओर बढ़ने लगा।

(घ) अमेरिकी महाद्वीप की खोज और बहुमूल्य धातुओं का आगमन

1492 ई. के बाद अमेरिका के साथ यूरोप का संपर्क स्थापित हुआ। स्पेन ने मेक्सिको और पेरू जैसे क्षेत्रों पर अधिकार करके वहाँ से सोने और चाँदी का बड़े पैमाने पर दोहन किया।

सोलहवीं शताब्दी में अमेरिकी चाँदी का यूरोप आगमन बढ़ा। इससे स्पेन की आर्थिक शक्ति में वृद्धि हुई तथा यूरोप और एशिया के बीच व्यापारिक संबंधों का विस्तार हुआ।

अमेरिका से प्राप्त बहुमूल्य धातुओं ने यूरोपीय व्यापार और मुद्रा-आधारित अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित किया।

(ङ) भूमध्यसागरीय व्यापार पर उस्मानी प्रभाव

उस्मानी साम्राज्य के विस्तार से पूर्वी भूमध्यसागर के अनेक क्षेत्रों पर उसका राजनीतिक नियंत्रण स्थापित हुआ। इसने यूरोपीय व्यापारियों के सामने नई परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं।

इसके साथ ही अटलांटिक मार्गों के विकास ने यूरोपीय व्यापारियों को भूमध्यसागर के पारंपरिक व्यापारिक नेटवर्क से बाहर निकलने का अवसर दिया।

(च) व्यापारिक पूँजीवाद का विकास

पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में व्यापारिक पूँजीवाद का विकास हुआ। बड़े व्यापारी, बैंकिंग संस्थाएँ, बीमा व्यवस्था और संयुक्त पूँजी कंपनियाँ आर्थिक गतिविधियों का हिस्सा बनने लगीं।

इससे दूरस्थ समुद्री व्यापार और औपनिवेशिक अभियानों में निवेश बढ़ा। अटलांटिक तट के नगरों को इस प्रक्रिया से विशेष लाभ मिला।

3. अटलांटिक तट का उदय

भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था के सापेक्ष महत्त्व में कमी के साथ अटलांटिक तट के नगरों और देशों का आर्थिक विकास हुआ। इस प्रक्रिया में पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैंड, इंग्लैंड और फ्रांस की प्रमुख भूमिका रही।

(क) पुर्तगाल का उदय

पुर्तगाल अटलांटिक समुद्री विस्तार का अग्रणी देश था। प्रिंस हेनरी द नेविगेटर के संरक्षण में समुद्री यात्राओं को प्रोत्साहन मिला।

पुर्तगाली नाविकों ने अफ्रीका के पश्चिमी तट पर व्यापारिक केंद्र स्थापित किए। 1498 ई. में वास्को-दा-गामा के भारत पहुँचने के बाद पुर्तगाल ने हिंद महासागर के व्यापार में अपनी उपस्थिति मजबूत की।

लिस्बन एशिया, अफ्रीका और यूरोप के बीच समुद्री व्यापार का प्रमुख केंद्र बन गया। मसालों, सोने, हाथीदाँत और अन्य वस्तुओं के व्यापार से पुर्तगाल को लाभ हुआ।

(ख) स्पेन का उदय

अमेरिका की खोज के बाद स्पेन ने कैरिबियन द्वीपों, मध्य अमेरिका और दक्षिण अमेरिका के विशाल क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित किया।

स्पेन ने मेक्सिको और पेरू से सोने तथा चाँदी का दोहन किया। इन धातुओं का यूरोप में आगमन स्पेनिश राजसत्ता और यूरोपीय व्यापार के विस्तार का महत्त्वपूर्ण आधार बना।

सेविल अमेरिका के साथ स्पेनी व्यापार का प्रमुख केंद्र बना। बाद में काडिज़ ने भी इस व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(ग) नीदरलैंड का उदय

सत्रहवीं शताब्दी में नीदरलैंड यूरोप की प्रमुख व्यापारिक और वित्तीय शक्ति के रूप में उभरा।

एम्स्टर्डम समुद्री व्यापार, बैंकिंग, बीमा और पूँजी निवेश का प्रमुख केंद्र बना। डच ईस्ट इंडिया कंपनी (VOC) की स्थापना 1602 ई. में हुई। इस कंपनी ने एशिया में व्यापारिक गतिविधियों और औपनिवेशिक नियंत्रण का विस्तार किया।

डच व्यापारियों ने मसालों, वस्त्रों, चीनी और अन्य वस्तुओं के अंतरराष्ट्रीय व्यापार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(घ) इंग्लैंड का उदय

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैंड की समुद्री शक्ति तेजी से विकसित हुई। अंग्रेजी व्यापारियों ने उत्तरी अमेरिका, कैरिबियन और एशिया में व्यापारिक गतिविधियाँ बढ़ाईं।

1600 ई. में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई। इसके माध्यम से अंग्रेजों ने भारत और एशिया के अन्य क्षेत्रों में व्यापारिक केंद्र स्थापित किए।

लंदन अटलांटिक व्यापार, बैंकिंग, जहाजरानी और वित्तीय गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण केंद्र बना। बाद में ब्रिटेन का औपनिवेशिक साम्राज्य विश्वव्यापी स्वरूप ग्रहण करने लगा।

(ङ) फ्रांस का उदय

फ्रांस ने भी अटलांटिक व्यापार और औपनिवेशिक विस्तार में भाग लिया। फ्रांसीसी व्यापारियों ने कनाडा, कैरिबियन द्वीपों और भारत में व्यापारिक गतिविधियाँ विकसित कीं।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस ने उत्तरी अमेरिका में न्यू फ्रांस तथा कैरिबियन में कई उपनिवेश स्थापित किए। बोर्डो, नांतेस और ला रोशेल जैसे बंदरगाह समुद्री व्यापार के महत्त्वपूर्ण केंद्र बने।

4. अटलांटिक व्यापार का विस्तार

अटलांटिक तट के उदय का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार समुद्रपारीय व्यापार का विस्तार था। अमेरिका, यूरोप और अफ्रीका के बीच एक व्यापक व्यापारिक नेटवर्क विकसित हुआ।

इस व्यापार में प्रमुख रूप से तीन क्षेत्रों की भूमिका थी:

1. यूरोप: हथियार, वस्त्र, धातु के सामान और अन्य निर्मित वस्तुओं का निर्यात।
2. अफ्रीका: दास बनाए गए अफ्रीकी लोगों को जबरन अमेरिका पहुँचाया गया।
3. अमेरिका और कैरिबियन: चीनी, तंबाकू, कॉफी, कपास तथा अन्य कृषि उत्पादों का उत्पादन और निर्यात।

इस व्यवस्था को सामान्यतः त्रिकोणीय व्यापार (Triangular Trade) कहा जाता है। हालाँकि वास्तविक व्यापारिक मार्ग हमेशा त्रिकोणीय नहीं थे; वे अनेक समुद्री मार्गों और बंदरगाहों के माध्यम से संचालित होते थे।

अटलांटिक व्यापार ने यूरोप में व्यापारिक पूँजी, बैंकिंग, बीमा, जहाजरानी और औद्योगिक निवेश के विकास को प्रोत्साहित किया।

5. अटलांटिक तट के प्रमुख बंदरगाहों का विकास

बंदरगाह	देश	आर्थिक महत्त्व
लिस्बन	पुर्तगाल	एशिया-अफ्रीका व्यापार
सेविल	स्पेन	अमेरिका के साथ व्यापार
काडिज़	स्पेन	अमेरिकी उपनिवेशों से समुद्री व्यापार
एम्स्टर्डम	नीदरलैंड	बैंकिंग, बीमा और अंतरराष्ट्रीय व्यापार
लंदन	इंग्लैंड	अटलांटिक व्यापार और वित्त
बोर्डो	फ्रांस	समुद्री व्यापार और औपनिवेशिक वस्तुएँ
नांतेस	फ्रांस	अटलांटिक व्यापार और दास व्यापार से जुड़ी गतिविधियाँ

इन बंदरगाहों के विकास से यूरोप के आर्थिक भूगोल में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। पुराने भूमध्यसागरीय नगरों की तुलना में अटलांटिक तट के नगरों का व्यापारिक महत्त्व बढ़ने लगा।

6. भूमध्यसागरीय और अटलांटिक अर्थव्यवस्था की तुलना

आधार	भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था	अटलांटिक अर्थव्यवस्था
प्रमुख काल	मध्यकाल	पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से
प्रमुख केंद्र	वेनिस, जेनोआ, फ्लोरेंस	लिस्बन, सेविल, एम्स्टर्डम, लंदन
व्यापार का स्वरूप	यूरोप-एशिया-अफ्रीका के बीच क्षेत्रीय एवं लंबी दूरी का व्यापार	समुद्रपारीय और वैश्विक व्यापार
प्रमुख वस्तुएँ	मसाले, रेशम, ऊनी वस्त्र, विलासिता की वस्तुएँ	चीनी, तंबाकू, कपास, चाँदी, मसाले
प्रमुख शक्तियाँ	इतालवी नगर-राज्य और भूमध्यसागरीय व्यापारी	पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैंड, इंग्लैंड और फ्रांस
आर्थिक आधार	व्यापारी मध्यस्थता और क्षेत्रीय समुद्री नेटवर्क	औपनिवेशिक व्यापार, समुद्री शक्ति और व्यापारिक पूँजी
सामाजिक प्रभाव	नगरों और व्यापारी वर्ग का विकास	औपनिवेशिक विस्तार, जबरन प्रवासन और दास प्रथा का विस्तार

7. इस परिवर्तन के यूरोप पर प्रभाव

(क) आर्थिक शक्ति का स्थानांतरण

भूमध्यसागरीय नगरों के स्थान पर अटलांटिक तट के नगरों का महत्त्व बढ़ा। लिस्बन, सेविल, एम्स्टर्डम और लंदन अंतरराष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख केंद्र बन गए।

(ख) व्यापारिक पूँजीवाद का विकास

समुद्री व्यापार के विस्तार से व्यापारी वर्ग की आर्थिक शक्ति बढ़ी। संयुक्त पूँजी कंपनियाँ, बैंकिंग संस्थाएँ, बीमा और शेयर बाजार जैसी व्यवस्थाओं का विकास हुआ।

(ग) औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का विस्तार

अमेरिका, अफ्रीका और एशिया में यूरोपीय शक्तियों ने व्यापारिक केंद्रों, किलों और उपनिवेशों की स्थापना की। इसने यूरोप के आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव को विश्व के अनेक भागों तक विस्तारित किया।

(घ) मूल्य क्रांति

अमेरिका से यूरोप में सोने और चाँदी के बड़े पैमाने पर आगमन तथा अन्य आर्थिक कारणों से सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में कीमतों में व्यापक वृद्धि हुई। इस घटना को इतिहास में मूल्य क्रांति (Price Revolution) कहा जाता है।

इससे निश्चित आय पर निर्भर वर्गों और सामंती भू-स्वामियों की आर्थिक स्थिति प्रभावित हुई, जबकि कुछ व्यापारी और उत्पादक वर्गों को लाभ हुआ।

(ङ) वैश्विक अर्थव्यवस्था का निर्माण

अटलांटिक व्यापार के विस्तार ने यूरोप, अफ्रीका, एशिया और अमेरिका को एक विस्तृत आर्थिक नेटवर्क में जोड़ दिया। वस्तुओं, पूँजी, मनुष्यों और तकनीकों का अंतरराष्ट्रीय प्रवाह बढ़ा।

(च) दास प्रथा और शोषण का विस्तार

अमेरिका के बागानों में चीनी, तंबाकू और कपास के उत्पादन के लिए अफ्रीका से लाखों लोगों को जबरन दास बनाकर ले जाया गया। इससे अटलांटिक अर्थव्यवस्था का विकास अत्यधिक मानवीय पीड़ा और शोषण से जुड़ा रहा।

8. क्या भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो गई थी?

यह समझना आवश्यक है कि अटलांटिक तट के उदय का अर्थ भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था का पूर्ण अंत नहीं था। वेनिस, जेनोआ और अन्य भूमध्यसागरीय नगर व्यापारिक गतिविधियों में सक्रिय बने रहे। उस्मानी साम्राज्य के अधीन भी भूमध्यसागरीय व्यापार जारी रहा।

वास्तव में यह परिवर्तन आर्थिक गतिविधियों के सापेक्ष महत्त्व और व्यापारिक नेतृत्व के स्थानांतरण की प्रक्रिया थी। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में अटलांटिक क्षेत्र का प्रभाव बढ़ा, जबकि भूमध्यसागर का पुराना व्यापारिक महत्त्व बना रहा।

निष्कर्ष

भूमध्यसागरीय अर्थव्यवस्था में गिरावट और अटलांटिक तट का उदय यूरोप के आर्थिक इतिहास की एक निर्णायक प्रक्रिया थी। समुद्री खोजों, नए व्यापारिक मार्गों, अमेरिका की खोज, बहुमूल्य धातुओं के आगमन तथा औपनिवेशिक साम्राज्यों के विस्तार ने यूरोप के आर्थिक केंद्र को भूमध्यसागर से अटलांटिक तट की ओर स्थानांतरित किया।

इस परिवर्तन से पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैंड, इंग्लैंड और फ्रांस जैसी शक्तियों का उदय हुआ। व्यापारिक पूँजीवाद, बैंकिंग, बीमा, संयुक्त पूँजी कंपनियों और वैश्विक व्यापार का विस्तार हुआ। दूसरी ओर, औपनिवेशिक शोषण, स्थानीय समाजों का विनाश, दास प्रथा और जबरन प्रवासन जैसी गंभीर समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं।

इस प्रकार अटलांटिक अर्थव्यवस्था का उदय केवल यूरोप के व्यापारिक केंद्रों का परिवर्तन नहीं था, बल्कि आधुनिक विश्व अर्थव्यवस्था, औपनिवेशिक साम्राज्यवाद और पूँजीवादी विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्माण भी था।